'केंद्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय,
भारत सरकार की ओर से भेंट'

विवेकानन्दजी के संग में

(वार्तालाप)

श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती

(चतुर्थ संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम
धन्तोली, नागपुर

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपुर–१

अनुवादक—
श्री एम. एम. गोस्वामी

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प १९ वाँ

[व ७० प्र २.७५]

मूल्य रु. ६.५०

मुद्रक
वि. भि. धाक्रस
नाग मुद्रणालय
नागपुर–२

वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ का यह चतुर्थ संस्करण है। यह ग्रन्थ मौलिक बंगला पुस्तक 'स्वामी-शिष्य संवाद' के दोनों खण्डों का अनुवाद है। बंगला पुस्तक स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती द्वारा लिखी गयी थी। शिष्य के नाते श्री चक्रवर्तीजी का समय समय पर स्वामीजी से जो वार्तालाप हुआ था वह इस पुस्तक में उद्धृत है। यद्यपि इस वार्तालाप में मुख्यतः धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों का समावेश है, तथापि साथ ही सामाजिक, आर्थिक, शिल्पकला एवं राष्ट्र सम्बन्धी अनेक आवश्यक तत्त्वों पर भी प्रकाश डाला गया है। हमारे देश का पुनरुत्थान किस प्रकार हो सकता है तथा हम अपनी खोई हुई मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति को फिर कैसे प्राप्त कर सकते है यह भी इसमे भलीभाँति दर्शाया गया है।

शिष्य चक्रवर्तीजी ने मौलिक बंगला पुस्तक लिखकर उसे स्वामीजी के अन्य गुरुभाइयों को भी दिखला ली थी तथा उनसे परामर्श प्राप्त किया था। इस प्रकार यह पुस्तक और भी अधिक विश्वसनीय हो गयी है।

हमे विश्वास है कि पाठकों का इस ग्रन्थ द्वारा अनेक दिशाओं में विशेष हित होगा।

नागपुर,
ता. ३०-१-१९७०

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका



स्वामी विवेकानंद

विवेकानन्दजी के संग में

परिच्छेद १

प्रथम दर्शन

स्थान—कलकत्ता, स्व० प्रियनाथ मुखर्जी का भवन, बागबाजार
वर्ष—१८९७ ईसवी।

विषय—स्वामीजी के साथ शिष्य का प्रथम परिचय—'मिरर' सम्पादक श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन के साथ वार्तालाप—इंग्लैण्ड और अमरीका की तुलना पर विचार—पाश्चात्य जगत् में भारतवासियों के धर्मप्रचार का भविष्य-फल—भारत का कल्याण धर्म में या राजनीतिक चर्चा में—गोरक्षा-प्रचारक के साथ भेंट—मनुष्य की रक्षा करना पहला कर्तव्य।

तीन चार दिन हुए, स्वामीजी प्रथम बार विलायत से लौटकर कलकत्ता नगर में पधारे हैं। बहुत दिनों के बाद आपका पुण्य-दर्शन होने से श्रीरामकृष्णभक्तगण बहुत प्रसन्न हो रहे हैं। उनमें से जिनकी अवस्था अच्छी है, वे स्वामीजी को सादर अपने घर पर आमन्त्रित करके आपके सत्संग से अपने को कृतार्थ समझते हैं। आज मध्याह्न को बागबाजार के अन्तर्गत राजवल्लभ मुहल्ले में श्रीरामकृष्णभक्त श्रीयुत प्रियनाथजी के घर पर स्वामीजी को निमन्त्रण है। इस समाचार को पाते ही, बहुत से भक्त उनके घर पर आ रहे हैं। शिष्य भी लोगों के मुँह से यह सुनकर प्रियनाथजी के घर पर कोई ढाई बजे उपस्थित हुआ। स्वामीजी के साथ शिष्य का अभी तक कुछ परिचय नहीं है। शिष्य को अपने

जीवन में यह प्रथम बार स्वामीजी का दर्शनलाभ हुआ है।

वहाँ उपस्थित होने के साथ ही स्वामी तुरीयानन्दजी शिष्य को स्वामीजी के पास ले गये और उनसे उसका परिचय कराया। स्वामीजी जब मठ में पधारे थे, तभी शिष्यरचित एक श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र पढ़कर उसके विषय में सब जान गये थे और यह भी मालूम कर लिया था कि शिष्य का श्रीरामकृष्ण के बड़े प्रेमी भक्त साधु नाग महाशय के पास आना-जाना रहता है।

शिष्य जब स्वामीजी को प्रणाम करके बैठ गया तो स्वामीजी ने संस्कृत भाषा में उससे सम्भाषण किया तथा नाग महाशय का कुशल-मंगल पूछा और नाग महाशय के आश्चर्यजनक त्याग, गम्भीर ईश्वरानुराग और नम्रता की प्रशंसा करते हुए बोले, "वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती*" और शिष्य को आज्ञा दी कि पत्र द्वारा इस सम्भाषण को उनके पास भेज दे। तदनन्तर बहुत भीड़ लग जाने के कारण वार्तालाप करने का सुभीता न देखकर स्वामीजी शिष्य और तुरीयानन्दजी को लेकर पश्चिम दिशा के एक छोटे कमरे में चले गये और शिष्य को लक्ष्य करके 'विवेचकचूड़ामणि' का यह श्लोक कहने लगे—

"मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।
येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि॥"

"हे विद्वन्! डरो मत, तुम्हारा नाश नहीं है, संसार-सागर के पार उतरने का उपाय है। जिस उपाय के आश्रय से यती लोग संसार-सागर के पार उतरे हैं, उसी श्रेष्ठ मार्ग को मैं तुम्हें दिखाता हूँ!" ऐसा कहकर शिष्य को श्रीशंकराचार्य कृत "विवेकचूड़ामणि" ग्रन्थ पढ़ने का आदेश दिया।

---

* अभिज्ञानशाकुन्तलम्।

शिष्य इन बातों को सुनकर चिन्ता करने लगा—क्या स्वामीजी मुझे मन्त्रदीक्षा लेने के लिए संकेत कर रहे हैं ? उस समय शिष्य वेदान्तवादी और बाह्य आचारों को बहुत ही महत्त्व देनेवाला था। गुरु से मन्त्र लेने की जो प्रथा है उस पर उसका कुछ विश्वास नहीं था और वर्णाश्रम धर्म का वह एकान्त अनुयायी तथा पक्षपाती था।

फिर नाना प्रकार का प्रसंग चल पड़ा। इतने में किसी ने आकर समाचार दिया कि 'मिरर' नामक दैनिक पत्र के सम्पादक श्रीयुत नरेन्द्रनाथ सेन स्वामीजी के दर्शन के लिए आये हैं। स्वामीजी ने सम्वादवाहक को आज्ञा दी 'उन्हें यहाँ लिवा लाओ।' नरेन्द्र बाबू ने छोटे कमरे में आकर आसन ग्रहण किया और वे अमरीका-इंग्लैण्ड के विषय में स्वामीजी से नाना प्रकार के प्रश्न करने लगे। प्रश्नों के उत्तर मे स्वामीजी ने कहा कि अमरीका के लोग जैसे सहृदय, उदारचित्त, अतिथिसेवा-तत्पर और नवीन भाव ग्रहण करने में उत्सुक है, वैसे जगत में और कोई नहीं हैं। अमरीका मे जो कुछ कार्य हुआ है, वह मेरी शक्ति से नहीं हुआ वरन् इतने सहृदय होने के कारण ही अमरीकानिवासी इस वेदान्तभाव को ग्रहण करने में समर्थ हुए है। इंग्लैण्ड के विषय में स्वामीजी ने कहा कि अंग्रेज जाति की तरह प्राचीन रीतिनीति की पक्षपाती (Conservative) और कोई जाति संसार में नहीं है। पहले तो ये लोग किसी नये भाव को सहज में ग्रहण करना नहीं चाहते; परन्तु यदि अध्यवसाय के साथ कोई भाव उनको एक बार समझा दिया जाय तो फिर उसे कभी भी नहीं छोड़ते। ऐसी दृढ़प्रतिज्ञता किसी दूसरी जाति में नहीं पायी जाती। इसी कारण अंग्रेज जाति ने सभ्यता और शक्ति के संचय में पृथ्वी पर

सब से ऊँचा पद प्राप्त किया है।

फिर यह कहकर कि यदि कोई सुयोग्य प्रचारक मिले तो अमरीका की अपेक्षा इंग्लैण्ड में ही वेदान्तकार्य के विशेष स्थायी होने की अधिक सम्भावना है, और कहा, "मैं केवल कार्य की नींव डालकर आया हूँ। मेरे बाद के प्रचारक उसी मार्ग पर चलकर भविष्य में बहुत बड़ा काम कर सकेंगे।"

नरेन्द्र बाबू ने पूछा—"इस प्रकार धर्मप्रचार करने से भविष्य में हम लोगों को क्या लाभ है?"

स्वामीजी ने कहा—"हमारे देश में जो कुछ है सो वेदान्तधर्म ही है। पाश्चात्य सभ्यता के साथ तुलना करने से यह कहना ही पड़ता है कि हमारी सभ्यता उसके पासंग भर भी नहीं है, परन्तु धर्म के क्षेत्र मे यह सार्वभौमिक वेदान्तवाद ही नाना प्रकार के मतावलम्बियों को समान अधिकार दे रहा है। इसके प्रचार से पाश्चात्य सभ्य संसार को विदित होगा कि किसी समय में भारतवर्ष में कैसे आश्चर्यजनक धर्म-भाव का स्फुरण हुआ था और वह अब तक वर्तमान है। पाश्चात्य जातियों में इस मत की चर्चा होने से उनकी हम पर श्रद्धा बढ़ेगी और हमारे प्रति सहानुभूति प्रकट होगी—बहुत सी अब तक हो भी चुकी है। इस प्रकार उनकी यथार्थ श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करने पर हम अपने ऐहिक जीवन के लिए उनसे वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करके जीवनसंग्राम में अधिक योग्यता प्राप्त करेंगे। दूसरी ओर वे हमसे वेदान्तमत ग्रहण करके पारमार्थिक कल्याण लाभ करने में समर्थ होंगे।

नरेन्द्र बाबू ने पूछा—"इस प्रकार के आदान-प्रदान से हमारी राजनीतिक उन्नति की कोई आशा है या नहीं?" स्वामीजी बोले, "वे (पाश्चात्य जाति) महापराक्रमशाली विरोचन की सन्तान

हैं। उनकी शक्ति से पंचभूत कठपुतली के समान उनकी सेवा कर रहे हैं। यदि आपको यह प्रतीत हो कि इसी स्थूल भौतिक शक्ति के प्रयोग से किसी न किसी दिन हम उनसे स्वतन्त्र हो जायँगे तो आपका ऐसा अनुमान सर्वथा निर्मूल है। इस शक्ति-प्रयोगकुशलता में, उनमें और हममें ऐसा अन्तर है जैसा कि हिमालय और एक सामान्य शिलाखण्ड में। मेरे मत को आप सुनियेगा। हम लोग उक्त प्रकार से वेदान्तधर्म का गूढ़ रहस्य पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके उन महाशक्ति धारण करने वालों की श्रद्धा और सहानुभूति को आकर्षित करेंगे और आध्यात्मिक विषय में सर्वदा हम उनके गुरुस्थान पर आसीन रहेंगे। दूसरी ओर वे अन्यान्य ऐहिक विषयों में हमारे गुरु बने रहेंगे। जिस दिन भारतवासी अपने धर्मविषय से विमुख होकर पाश्चात्य जगत् से धर्म को जानने की चेष्टा करेंगे, उसी दिन इस अधःपतित जाति का जातित्व सदा के लिए नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। हमें यह दे दो, हमें वह दे दो ऐसे आन्दोलन से सफलता प्राप्त नहीं होगी। परन्तु उस आदान-प्रदानरूप कार्य से जब दोनों पक्ष में श्रद्धा और सहानुभूति की एक प्रेमलता का जन्म होगा, तब अधिक चिल्लाने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। वे स्वयं हमारे लिए सब कुछ कर देंगे। मेरा विश्वास है कि इसी प्रकार से वेदान्तधर्म की चर्चा और वेदान्त का सर्वत्र प्रचार होने से हमारे देश तथा पाश्चात्य देश दोनों को ही विशेष लाभ होगा। इसके सामने राजनीतिक चर्चा मेरी समझ में गौण उपाय दीखती है। अपने इस विश्वास को कार्य में परिणत करने में मैं अपने प्राण तक भी दे दूँगा। यदि आप समझते हैं कि किसी दूसरे उपाय से भारत का कल्याण होगा तो आप उसी उपाय का अवलम्बन कीजिये।"

नरेन्द्र बाबू स्वामीजी की बातों पर बिना वाद-विवाद किये सहमत हो कुछ समय के पश्चात् चले गये। स्वामीजी की पूर्वोक्त बातों को श्रवण कर शिष्य विस्मित हो गया और उनकी दिव्य मूर्ति की ओर टकटकी लगाये देखता रहा।

नरेन्द्र बाबू के चले जाने के पश्चात् गोरक्षण सभा के एक उद्योगी प्रचारक स्वामीजी के दर्शन के लिए साधु-संन्यासियों का सा वेष धारण किये हुए आये। उनके मस्तक पर गेरुए रंग की एक पगड़ी थी। देखते ही जान पड़ता था कि वे हिन्दुस्तानी हैं। इन प्रचारक के आगमन का समाचार पाते ही स्वामीजी कमरे से बाहर आये। प्रचारक ने स्वामीजी को अभिवादन किया और गोमाता का एक चित्र उनको दिया। स्वामीजी ने उसे ले लिया और पास बैठे हुए किसी व्यक्ति को वह देकर प्रचारक से निम्न-लिखित वार्तालाप करने लगे।

स्वामीजी—आप लोगों की सभा का उद्देश्य क्या है ?

प्रचारक—हम देश की गोमाताओं को कसाई के हाथों से बचाते हैं। स्थान स्थान पर गोशालाएँ स्थापित की गयी हैं जहाँ रोगग्रस्त, दुर्बल और कसाइयों से मोल ली हुई गोमाताओं का पालन किया जाता है।

स्वामीजी—बड़ी प्रशंसनीय बात है। सभा की आय कैसे होती है ?

प्रचारक—आप जैसे धर्मात्मा जनों की कृपा से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से सभा का कार्य चलता है।

स्वामीजी—आपकी नगद पूंजी कितनी है ?

प्रचारक—मारवाड़ी वैश्य-सम्प्रदाय इस कार्य में विशेष सहायता देता है। वे इस सत्कार्य में बहुतसा धन प्रदान करते हैं।

स्वामीजी—मध्य-भारत में इस वर्ष भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा है। भारत सरकार ने घोषित किया है कि नौ लाख लोग अन्नकष्ट से मर गये हैं। क्या आपकी सभा ने इस दुर्भिक्ष में कोई सहायता करने का आयोजन किया था ?

प्रचारक—हम दुर्भिक्षादि में कुछ सहायता नहीं करते। केवल गोमाता की रक्षा करने के उद्देश्य से यह सभा स्थापित हुई है।

स्वामीजी—आपके देखते देखते इस दुर्भिक्षादि में आपके लाखों भाई कराल काल के चंगुल मे फँस गये। आप लोगों के पास बहुत नगद रुपया जमा होते हुए भी क्या उनको एक मुट्ठी अन्न देकर इस भीषण दुर्दिन में उनकी सहायता करना उचित नहीं समझा गया ?

प्रचारक—नहीं, मनुष्य के कर्मफल अर्थात् पापों से यह दुर्भिक्ष पड़ा था। उन्होंने कर्मानुसार फलभोग किया। जैसे कर्म हैं वैसा ही फल हुआ है।

प्रचारक की बात सुनते ही स्वामीजी के क्रोध की ज्वाला भड़क उठी और ऐसा मालूम होने लगा कि उनके नयनप्रान्त से अग्निकण स्फुरित हो रहे हैं। परन्तु अपने को सम्भालकर वे बोले, "जो सभा-समिति मनुष्यों से सहानुभूति नहीं रखती, अपने भाइयों को बिना अन्न मरते देखकर भी उनकी रक्षा के निमित्त एक मुट्ठी अन्न से सहायता करने को उद्यत नहीं होती, तथा पशु-पक्षियों के निमित्त हजारों रुपये व्यय कर रही है, उस सभा-समिति से मैं लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं रखता। उससे मनुष्यसमाज का विशेष कुछ उपकार होना असम्भव सा जान पड़ता है। 'अपने कर्मफल से मनुष्य मरते हैं!' इस प्रकार सब बातों में कर्मफल का आश्रय लेने से किसी विषय में जगत् में कोई भी उद्योग करना

व्यर्थ है। यदि यह प्रमाण स्वीकार कर लिया जाय तो पशु-रक्षा का काम भी इसी के अन्तर्गत आता है। तुम्हारे पक्ष में भी कहा जा सकता है कि गोमाताएँ अपने कर्मफल से कसाइयों के पास पहुँचती हैं और मारी जाती हैं—इससे उनकी रक्षा का उद्योग करने का कोई प्रयोजन नहीं है।"

प्रचारक कुछ लज्जित होकर बोले—"हाँ महाराज, आपने जो कहा वह सत्य है, परन्तु शास्त्र में लिखा है कि गौ हमारी माता है।"

स्वामीजी हँसकर बोले—"जी हाँ, गौ हमारी माता है यह मैं भलीभाँति समझता हूँ। यदि यह न होती तो ऐसी कृतकृत्य सन्तान और दूसरा कौन प्रसव करता ?"

प्रचारक इस विषय पर और कुछ नहीं बोले। शायद स्वामीजी की हँसी प्रचारक की समझ में नहीं आयी। आगे स्वामीजी से उन्होंने कहा, "इस समिति की ओर से आपके सम्मुख भिक्षा के लिए उपस्थित हुआ हूँ।"

स्वामीजी—मैं साधु-संन्यासी हूँ। रुपया मेरे पास कहाँ है कि मैं आपकी सहायता करूँ? परन्तु यह भी कहता हूँ कि यदि कभी मेरे पास धन आये तो मैं प्रथम उस धन को मनुष्यसेवा में व्यय करूँगा। सब से पहले मनुष्य की रक्षा आवश्यक है—अन्नदान, धर्मदान, विद्यादान करना पड़ेगा। इन कामों को करके यदि कुछ रुपया बचेगा तो आपकी समिति को कुछ दूँगा।

इन बातों को सुनकर प्रचारक स्वामीजी को अभिवादन करके चले गये। तब स्वामीजी हमसे कहने लगे, "देखो कैसे अचम्भे की बात उन्होंने बतलायी! कहा कि मनुष्य अपने कर्मफल से मरता है, उस पर दया करने से क्या होगा? हमारे देश के पतन का

अनुमान इसी बात से किया जा सकता है। तुम्हारे हिन्दूधर्म का कर्मवाद कहाँ जाकर पहुँचा? जिस मनुष्य का मनुष्य के लिए जी नहीं दुखता वह अपने को मनुष्य कैसे कहता है?" इन बातों को कहने के साथ ही स्वामीजी का शरीर क्षोभ और दुःख से सनसना उठा।

इसके पश्चात् शिष्य से बोले—फिर कभी हमसे भेंट करना।

शिष्य—आप कहाँ विराजियेगा? सम्भव है कि आप किसी बड़े आदमी के स्थान पर ठहरेंगे, वहाँ हमको कोई घुसने भी न देगा।

स्वामीजी—इस समय तो मैं कभी आलमबाजार के मठ में, कभी काशीपुर में गोपाललाल शील की बगीचे वाली कोठी में रहूँगा, तुम वहाँ आ जाना।

शिष्य—महाराज, बड़ी इच्छा है कि एकान्त में आपसे वार्तालाप करूँ।

स्वामीजी—बहुत अच्छा, किसी दिन रात्रि में आ जाओ, वेदान्त की चर्चा होगी।

शिष्य—महाराज, मैंने सुना है कि आपके साथ कुछ अंग्रेज और अमरीकन आये हैं। वे मेरे वस्त्रादिक के पहरावे और बातचीत से अप्रसन्न तो नहीं होंगे?

स्वामीजी—वे भी तो मनुष्य हैं। विशेष करके वे वेदान्तधर्मनिष्ठ हैं। वे तुम्हारे समागम और सम्भाषण से आनन्दित होंगे।

शिष्य—महाराज, वेदान्त के अधिकारियों के लिए जो सब लक्षण होने चाहिए, वे आपके पाश्चात्य शिष्यों में कैसे विद्यमान हैं? शास्त्र कहता है–'अधीतवेदवेदान्त, कृतप्रायश्चित्त, नित्य-

नैमित्तिक-कर्मानुष्ठानकारी,' 'आहार-विहार में परम संयमी, विशेष करके चतु:साधनसम्पन्न न होने से वेदान्त का अधिकारी नहीं बनता।' आपके पाश्चात्य शिष्यगण प्रथम तो ब्राह्मण नहीं हैं, दूसरे भोजनादिक में अनाचारी हैं, वे वेदान्तवाद कैसे समझ गये ?

स्वामीजी––वे वेदान्त को समझे या नहीं यह तुम उनसे मेल-मिलाप करने से ही जान जाओगे।

मालूम पड़ता है कि स्वामीजी अब तक समझ गये थे कि शिष्य एक निष्ठावान्, बाह्याचारप्रिय हिन्दू है।

इसके बाद स्वामीजी श्रीरामकृष्ण के भक्तों के साथ श्रीयुत बलराम बसुजी के स्थान को गये। शिष्य भी बटतले मुहल्ले से विवेकचूड़ामणि ग्रन्थ मोल लेकर दर्जीपाड़े में अपने घर की ओर चला गया।

परिच्छेद २

स्थान—कलकत्ते से काशीपुर आने का रास्ता और गोपाललाल शील का बाग।

वर्ष—१८९७ ईसवी।

विषय—चेतना का लक्षण—जीवनसंग्राम में पटुता—मनुष्यजाति की जीवनीशक्ति-परीक्षा के निमित्त भी वही नियम—स्वयं को शक्तिहीन समझना ही भारत के जड़त्व का कारण—प्रत्येक में अनन्त शक्तिस्वरूप आत्मा विद्यमान—इसीको दिखलाने और समझाने के लिए महापुरुषों का आगमन—धर्म अनुभूति का विषय—तीव्र व्याकुलता ही धर्मलाभ करने का उपाय—वर्तमान काल में गीतोक्त कर्म की आवश्यकता—गीताकार श्रीकृष्णजी के पूजन की आवश्यकता—देश में रजोगुण का उद्दीपन कराने का प्रयोजन।

आज मध्याह्न को स्वामीजी श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष * के मकान पर आराम कर रहे थे। शिष्य ने वहाँ आकर स्वामीजी को प्रमाण किया और उनको गोपाललाल शील के महल को जाने के लिए प्रस्तुत पाया। गाड़ी भी उपस्थित थी। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ तू चल।" शिष्य के सम्मत होने पर स्वामीजी उसको लेकर गाड़ी में सवार हुए और गाड़ी चल दी। चितपुर के रास्ते पर पहुँचकर गंगादर्शन होते ही स्वामीजी अपने आपसे "गंगातरंग-रमणीय-जटाकलापम्" इत्यादि स्वर से कहने लगे। शिष्य मुग्ध होकर इस अद्भुत स्वर-लहरी को चुपचाप

* बंगाल के एक सुविख्यात नाटककार तथा नट एवं श्रीरामकृष्ण के एक परम भक्त।

सुनने लगा। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर एक रेलगाड़ी के इंजन को चितपुर-पुल की ओर जाते देख स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "देखो कैसा सिंह की भाँति जा रहा है।" शिष्य ने कहा, "यह तो जड़ है, उसके पीछे मनुष्य की चेतना-शक्ति काम करती है और इसीसे वह चलता है। इस प्रकार चलने से क्या उसका अपना बल प्रकट होता है?"

स्वामीजी—अच्छा, बतलाओ तो चेतना का लक्षण क्या है?

शिष्य—महाराज, चेतना वही है जिसमें बुद्धि की क्रिया पायी जाती है।

स्वामीजी—जो कुछ प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करता है वह चेतना है। उसमें ही चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने लगो तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवनरक्षा के लिए एक बार लड़ाई करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषकार है, जहाँ संग्राम है, वहीं जीवन का चिह्न और चैतन्य का प्रकाश है।

शिष्य—क्या यही नियम मनुष्य और मनुष्यजाति के सम्बन्ध में भी ठीक है?

स्वामीजी—ठीक है या नहीं यह संसार का इतिहास पढ़कर देखो। यह नियम तुम्हारे अतिरिक्त सब जातियों के सम्बन्ध में ठीक है। आजकल संसार भर में केवल तुम्हीं जड़ के समान पड़े हो। तुमको बिलकुल मन्त्रमुग्ध (hypnotise) कर डाला है। बहुत प्राचीन समय से औरों ने तुमको बतलाया कि तुम हीन हो, तुममें कोई शक्ति नहीं है—और तुम भी यह सुनकर सहस्रों वर्षों से अपने को समझने लगे हो कि हम हीन हैं—निकम्मे है। ऐसा ध्यान करते-करते तुम वैसे ही बन गये हो। (अपना शरीर दिखलाकर) यह शरीर भी तो इसी देश की मिट्टी से बना है,

परन्तु मैंने कभी ऐसी चिन्ता नहीं की। देखो इसी कारण उसकी (ईश्वर की) इच्छा से जो हमको चिरकाल से हीन समझते हैं, उन्होंने ही मेरा देवता के समान सम्मान किया और करते हैं। यदि तुम भी सोच सको कि हमारे अन्दर अनन्त शक्ति, अपार ज्ञान, अदम्य उत्साह वर्तमान है, और अपने भीतर की शक्ति को जगा सको तो तुम भी मेरे समान हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, ऐसा चिन्तन करने की शक्ति कहाँ से मिले? ऐसा शिक्षक या उपदेशक कहाँ मिले जो लड़कपन से ही इन बातों को सुनाता और समझाता रहे! हमने तो सब से यही सुना और सीखा कि आजकल का पठनपाठन केवल नौकरी के निमित्त है।

स्वामीजी—इसीलिए दूसरे प्रकार से सिखलाने और दिखलाने को हम आये हैं। तुम इस तत्त्व को हमसे सीखो, समझो और अनुभव करो। फिर इस भाव को नगर नगर में, गाँव गाँव में पुरवे-पुरवे में फैला दो; सब के पास जा जाकर कहो, "उठो, जागो और सोओ मत; सम्पूर्ण अभाव और दुःख नष्ट करने की शक्ति तुम्हीं में है; इस बात पर विश्वास करने ही से वह शक्ति जाग उठेगी।" इस बात को सब से कहो और साथ साथ सरल भाषा में विज्ञान, दर्शन, भूगोल और इतिहास की मूल बातों को सर्वसाधारण में फैला दो। मेरा यह विचार है कि मैं अविवाहित नवयुवकों को लेकर एक शिक्षा-केन्द्र स्थापित करूँ। पहले उनको शिक्षा दूँ, तत्पश्चात् उनके द्वारा इस कार्य का प्रचार कराऊँ।

शिष्य—महाराज, इस कार्य के लिए तो बहुत धन की अपेक्षा है। और रुपया कहाँ से आयेगा?

स्वामीजी—अरे तू क्या कहता है? मनुष्य ही तो रुपया पैदा

करता है। रुपये से मनुष्य पैदा होता है यह भी कभी कहीं सुना है? यदि तू अपने मन और मुख को एक कर सके तथा वचन और क्रिया को एक कर सके तो धन आप ही तेरे पास जलवत् बह आयेगा।

शिष्य—अच्छा महाराज, माना कि धन आ गया और आपने भी इस सत्कार्य का अनुष्ठान कर दिया। तब भी क्या हुआ? इसके पूर्व कितने ही महापुरुष कितने सत्कार्यों का अनुष्ठान कर गये, वे सब (सत्कार्य) अब कहाँ हैं! यह निश्चय है कि आपके भी प्रतिष्ठित कार्य की भविष्य में ऐसी ही दशा होगी। तो ऐसे उद्यम की आवश्यकता ही क्या है?

स्वामीजी—भविष्य में क्या होगा, इसी चिन्ता में जो सर्वदा रहता है उससे कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिए जिस बात को तू यह समझता है कि वह सत्य है उसे अभी कर डाल; भविष्य मे क्या होगा, क्या नहीं होगा इसकी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? तनिक सा तो जीवन है; यदि इसमें भी किसी कार्य के लाभालाभ का विचार करते रहें तो क्या उस कार्य का होना सम्भव है? फलाफल देने वाले तो एकमात्र वे ईश्वर हैं। जैसा उचित होगा वैसा ही वे करेंगे। इस विषय में पड़ने से तेरा क्या प्रयोजन है? तू उस विषय की चिन्ता न कर और अपना काम किये जा।

बातें करते करते गाड़ी कोठी पर जा पहुँची। कलकत्ते से बहुत से लोग स्वामीजी के दर्शन के लिए वहाँ आये थे। स्वामीजी गाड़ी से उतरकर कमरे में जा बैठे और सब से बातचीत करने लगे। स्वामीजी के अंग्रेज शिष्य गुडविन साहब मूर्तिमान सेवा की भाँति पास ही खड़े थे। इनके साथ शिष्य का परिचय पहले

ही हो चुका था, इसीलिए शिष्य भी उनके पास ही बैठ गया और दोनों मिलकर स्वामीजी के विषय में नाना प्रकार का वार्तालाप करने लगे।

सन्ध्या होने पर स्वामीजी ने शिष्य को बुलाकर पूछा, "क्या तूने कठोपनिषद् कण्ठस्थ कर लिया है?"

शिष्य—नहीं महाराज, मैंने शांकरभाष्य के सहित उसका पाठ मात्र किया है।

स्वामीजी—उपनिषदों में ऐसा सुन्दर ग्रन्थ और कोई नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तू इसे कण्ठस्थ कर ले। नचिकेता के समान श्रद्धा, साहस, विचार और वैराग्य अपने जीवन में लाने की चेष्टा कर, केवल पढ़ने मात्र से क्या होगा?

शिष्य—ऐसी कृपा कीजिये कि दास को भी उस सब का अनुभव हो जाय।

स्वामीजी—तुमने तो श्रीरामकृष्ण का कथन सुना है? वे कहा करते थे कि "कृपारूपी वायु सर्वदा बहती रहती है, तू पाल उठा क्यों नहीं देता?" रे बच्चा, क्या कोई किसी को कुछ कर दे सकता है? गुरु तो केवल यही बता देते हैं कि अपना कर्म अपने ही हाथ में है। बीज ही की शक्ति से वृक्ष होता है। जल-वायु तो उसके सहायक मात्र होते हैं।

शिष्य—तो देखिये महाराज, बाहर की सहायता भी आवश्यक है?

स्वामीजी—हाँ, है। परन्तु बात यह है कि भीतर पदार्थ न रहने से सैकड़ों प्रकार की सहायता से भी कुछ फल नहीं होता। और आत्मानुभूति के लिए एक अवसर सभी को मिलता है, क्योंकि सभी ब्रह्म हैं। ऊँच नीच का भेद ब्रह्मविकास के तारतम्य

मात्र से होता है। समय आने पर सभी का पूर्ण विकास होता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है "कालेनात्मनि विन्दति।"

शिष्य---महाराज, ऐसा कब होगा? शास्त्र से जान पड़ता है कि हमने बहुत जन्म अज्ञान में बिताये हैं।

स्वामीजी---डर क्या है? अब जब तू यहाँ आ गया है तब इसी जन्म में तेरी इच्छा पूरी हो जायगी। मुक्ति, समाधि ये सब ब्रह्मप्रकाश के पथ पर के प्रतिबन्ध को केवल दूर करने के लिए होते हैं, क्योंकि आत्मा सूर्य के समान सर्वदा ही चमकती है। केवल अज्ञानरूपी बादल ने उसे ढक लिया है। यह भी हट जायगा और सूर्य का प्रकाश होगा। तभी 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' ऐसी अवस्था होगी। जितने पथ देखते हो वे सब इस प्रतिबन्धरूपी बादल को दूर करने का उपदेश देते हैं। जिसने जिस भाव से आत्मानुभव किया है वह उसी भाव से उपदेश कर गया है, परन्तु सब का उद्देश्य है आत्मज्ञान---आत्मदर्शन। इसमें सब जातियों को, सब प्राणियों को समान अधिकार है। यही सर्ववादि-सम्मत मत है।

शिष्य---महाराज, शास्त्र के इस वचन को जब मैं पढ़ता हूँ या सुनता हूँ तब आत्मवस्तु अभी तक प्रत्यक्ष न होने के कारण मन बहुत ही चंचल हो जाता है।

स्वामीजी---"इसीको 'व्याकुलता' कहते हैं। यह जितनी बढ़ेगी प्रतिबन्धरूपी बादल उतना ही नष्ट होगा, उतना ही श्रद्धाजनित समाधान प्राप्त होगा। शनैः शनैः आत्मा 'करतलामलकवत्' प्रत्यक्ष होगी। अनुभूति ही धर्म का प्राण है। कुछ कुछ आचार तथा नियम सब मान सकते हैं। कुछ विधि और नियम पालन भी सब कर सकते हैं, परन्तु अनुभूति के लिए कितने लोग व्याकुल होते हैं? व्याकुलता, ईश्वरलाभ या आत्मज्ञान के निमित्त

उन्मत्त होना ही यथार्थ धर्मप्रवणता है। भगवान् श्रीकृष्ण के लिए गोपियों की जैसी उद्दाम उन्मत्तता थी, वैसी ही आत्मदर्शन के लिए होनी चाहिए। गोपियों के मन में भी स्त्री-पुरुष का भेद कुछ कुछ था, परन्तु ठीक ठीक आत्मज्ञान में लिंगभेद किंचित् नहीं रहता।" बात करते हुए स्वामीजी ने जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द' के विषय में कहा, "श्री जयदेव संस्कृत भाषा के अन्तिम कवि थे। उन्होंने कई स्थानों मे भाव की अपेक्षा श्रुति-मधुर पदविन्यास पर अधिक ध्यान दिया है। देखो, गीत गोविन्द के 'पतति पतत्रे'* इत्यादि श्लोकों में कवि ने अनुराग तथा व्याकुलता की पराकाष्ठा दिखलायी है।" आत्मदर्शन के लिए वैसा ही अनुराग होना चाहिए।

फिर वृन्दावन-लीला को छोड़कर यह भी देखो कि कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण कैसे हृदयग्राही हैं—ऐसे भयानक युद्ध-कोलाहल में भी श्रीकृष्ण भगवान् कैसे स्थिर, गम्भीर तथा शान्त हैं। युद्धक्षेत्र में ही अर्जुन को गीता का उपदेश दे रहे हैं। क्षत्रिय का स्वधर्म जो युद्ध है उसी में उनको उत्साहित कर रहे हैं।

इस भयंकर युद्ध के प्रवर्तक होकर भी कैसे कर्महीन रहे, अस्त्र धारण नहीं किया। जिधर से देखोगे श्रीकृष्ण चरित्र को सर्वांग-सम्पूर्ण पाओगे। ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग इन सब के वे मानो प्रत्यक्ष स्वरूप ही हैं। श्रीकृष्ण के इसी भाव की आजकल विशेष आलोचना होनी चाहिए। अब वृन्दावन के बंशीधारी कृष्ण के ध्यान करने से कुछ नहीं बनेगा, इससे जीव का उद्धार नहीं

* पतति पतत्रे विचलति पत्रे शंकितभवदुपयानम्।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम्॥

—गीत-गोविन्दम्।

होगा। अब प्रयोजन है गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की, धनुष-धारी श्रीरामचन्द्रजी की, महावीरजी की, कालीमाई की पूजा की। इसीसे लोग महा उद्यम से कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने बहुत अच्छी तरह विचार करके देखा है कि वर्तमान काल में जो धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत लोग पाशवी दुर्बलता से भरे हुए हैं या विकृतमस्तिष्क अथवा उन्मादग्रस्त हैं। बिना रजोगुण के तेरा अब इहलोक भी नहीं---परलोक भी नहीं। घोर तमोगुण से देश भर गया है। फल भी उसका वही हो रहा है---इस जीवन में दासत्व और पर जीवन में नरक।

शिष्य---पाश्चात्यों में जो रजोभाव है उसे देखकर क्या आपको आशा है कि वे भी सात्त्विक बनेंगे?

स्वामीजी---निश्चय बनेंगे, निःसन्देह बनेंगे। महारजोगुण का आश्रय लेने वाले वे अब भोगावस्था की चरम सीमा में पहुँच गये हैं। उनको योग प्राप्त नहीं होगा तो क्या तुम्हारे समान भूखे, उदर के निमित्त मारे मारे फिरने वालों को होगा? उनके उत्कृष्ट भोगों को देख 'मेघदूत' के 'विद्युद्वन्तं ललितवसनाः' इत्यादि चित्र का स्मरण होता है। तुम्हारे भोग में क्या है? केवल गन्दे मकान में रहना, फटे पुराने चिथड़ों पर सोना और प्रतिवर्ष शूकर के समान अपना वंश बढ़ाना---भूखे, भिखमंगे तथा दासों को जन्म देना! इसी कारण मैं कहता हूँ कि अब मनुष्यों में रजोगुण उद्दीपन कराके उनको कर्मशील करना पड़ेगा। कर्म-कर्म-कर्म, अब 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। इसको छोड़ उद्धार का अन्य कोई भी पथ नहीं है।

शिष्य---महाराज, क्या हमारे पूर्वज भी कभी रजोगुण-सम्पन्न थे?

स्वामीजी—क्यों नहीं ? इतिहास तो बतलाता है कि उन्होंने अनेक देशों पर विजय प्राप्त की और वहाँ उपनिवेश भी स्थापित किये। तिब्बत, चीन, सुमात्रा, जापान तक धर्मप्रचारकों को भेजा था। बिना रजोगुण का आश्रय लिये उन्नति का कोई भी उपाय नहीं है।

कथाप्रसंग में रात्रि बढ़ गयी। इतने में कु० मूलर आ पहुँचीं। यह एक अंग्रेज़ महिला थीं। स्वामीजी पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। कुछ बातचीत करके कुमारी मूलर ऊपर चली गयीं।

स्वामीजी—देखता है यह कैसी वीर जाति की है? बड़े धनवान की लड़की है, तब भी धर्मलाभ के लिए सब कुछ छोड़कर कहाँ आ पहुँची है!

शिष्य—हाँ महाराज, परन्तु आपका क्रियाकलाप और भी अद्भुत है। कितने ही अंग्रेज़ पुरुष और महिलाएँ आपकी सेवा के लिए सर्वदा उद्यत हैं। आजकल यह बड़ी आश्चर्यजनक बात प्रतीत होती है।

स्वामीजी—(अपने शरीर की ओर संकेत करके) यदि शरीर रहा तो कितने ही और आश्चर्य देखोगे। कुछ उत्साही और अनुरागी युवक मिलने से मैं देश को उलट-पलट कर दूँगा। मद्रास में ऐसे थोड़े युवक हैं, परन्तु बंगाल देश से मुझे विशेष आशा है। ऐसे स्वच्छ मस्तिष्क वाले और कहीं नहीं पैदा होते; किन्तु इनके शरीर में शक्ति नहीं है। मस्तिष्क और मांस-पेशियों का बल साथ ही बढ़ना चाहिए। बलवान् शरीर के साथ तीव्र बुद्धि हो तो सारा जगत् पदानत हो सकता है।

इतने में समाचार मिला कि स्वामीजी का भोजन तैयार है। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरा भोजन देखने चल।" जब स्वामीजी भोजन पा रहे थे तब वे कहने लगे, "बहुत चर्बी और तेल

से पका हुआ भोजन अच्छा नहीं होता है। पूरी से रोटी अच्छी होती है। पूरी रोगियों का खाना है। नया शाक अधिक प्रमाण में खाना चाहिए। मिठाई कम खानी चाहिए।" इन बातों को कहते कहते शिष्य से पूछा, "अरे, कई रोटियाँ मैंने खा लीं! क्या और भी खाना चाहिए?" कितनी रोटी खाई यह स्मरण नहीं रहा, और यह भी अनुमान नहीं हो सका कि भूख है या नहीं। बातों में शरीर-ज्ञान ऐसा जाता रहा।

और कुछ पाकर स्वामीजी ने अपना भोजन समाप्त किया। शिष्य भी आज्ञा पाकर कलकत्ते को लौटा। गाड़ी न मिलने से पैदल ही चला। चलते चलते विचार करने लगा कि, न जाने कल कब तक स्वामीजी के दर्शन पाऊँगा।

परिच्छेद ३

स्थान—काशीपुर, स्व० गोपाललाल शील का उद्यान

वर्ष—१८९७ ईस्वी

विषय—स्वामीजी में अद्भुत शक्ति का विकास—स्वामीजी के दर्शन के निमित्त कलकत्ते के अन्तर्गत बड़े बाजार के हिन्दुस्तानी पण्डितों का आगमन—पण्डितों के साथ संस्कृत भाषा में स्वामीजी का शास्त्रालाप—स्वामीजी के सम्बन्ध में पण्डितों की धारणा—स्वामीजी से उनके गुरुभाइयों की प्रीति—सभ्यता किसे कहते हैं—भारत की प्राचीन सभ्यता का विशेषत्व—श्रीरामकृष्णदेव के आगमन से प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता के सम्मेलन से एक नवीन युग का आविर्भाव—पाश्चात्य देश में धार्मिक लोगों के बाह्य चालचलन के सम्बन्ध में विचार—भावसमाधि तथा निर्विकल्प समाधि की विभिन्नता—श्रीरामकृष्ण भावराज्य के अधिराज—ब्रह्मज्ञ पुरुष ही यथार्थ में लोकगुरु—कुलगुरु प्रथा की अपकारिता—धर्म की ग्लानि दूर करने को ही श्रीरामकृष्ण का आगमन—पाश्चात्य जगत् में स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण का किस प्रकार से प्रचार किया।

स्वामीजी विलायत से प्रथम बार लौटकर कुछ दिन तक काशीपुर में स्व० गोपाललाल शील के उद्यान में विराजे। शिष्य का उस समय वहाँ प्रतिदिन आना-जाना रहता था। स्वामीजी के दर्शन के निमित्त केवल शिष्य ही नहीं वरन् और बहुत से उत्साही युवकों की वहाँ भीड़ रहती थी। कुमारी मूलर ने स्वामीजी के साथ आकर प्रथम वहीं अवस्थान किया था। शिष्य के गुरुभाई गुडविन साहब भी इसी उद्यान वाटिका में स्वामीजी के साथ रहते थे।

उस समय स्वामीजी का यश भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल रहा था। इसी कारण कोई कौतुकाविष्ट होकर, कोई धर्मतत्त्व पूछने के निमित्त और कोई स्वामीजी के ज्ञान की परीक्षा लेने को उनके पास आता था।

शिष्य ने देखा कि प्रश्न करनेवाले लोग स्वामीजी के शास्त्र-व्याख्यानों को सुनकर मोहित हो जाते थे और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से बड़े बड़े दार्शनिक और विश्वविद्यालयों के प्रसिद्ध पण्डितगण विस्मित हो जाते थे; मानो स्वामीजी के कण्ठ में स्वयं सरस्वती माता ही विराजमान हैं। इसी उद्यान में रहते समय उनकी अलौकिक योगदृष्टि का परिचय समय समय पर होता रहता था। *

कलकत्ते के बड़े बाजार में बहुत से पण्डित लोग रहते हैं, जिनका प्रतिपालन मारवाड़ियों के अन्न से ही होता है। इन सब वेदज्ञ एवं दार्शनिक पण्डितों ने भी स्वामीजी की कीर्ति सुनी थी। इनमें से कुछ प्रसिद्ध पण्डित लोग स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के निमित्त एक दिन इस बाग में आ पहुँचे। शिष्य उस दिन वहाँ उपस्थित था। आये हुए पण्डितों में से प्रत्येक धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में वार्तालाप कर सकता था। उन्होंने आते ही मण्डलीवेष्टित स्वामीजी का सत्कार कर संस्कृत भाषा में उनसे वार्तालाप आरम्भ किया। स्वामीजी ने भी संस्कृत ही में उत्तर दिया। उस दिन

* इस बगीचे में रहते समय स्वामीजी ने एक छिन्नमुण्ड प्रेत देखा था। वह मानो करुण स्वर से उस दारुण यन्त्रणा से मुक्त करने के लिए प्रार्थना करता था। अनुसन्धान से स्वामीजी को मालूम हुआ कि वास्तव में उसी बगीचे में किसी आकस्मिक घटना से एक ब्राह्मण की मृत्यु हुई थी। स्वामीजी ने यह घटना बाद में अपने गुरुभाइयों को बतलायी थी।

कौनसे विषय पर पण्डितों का वाद-विवाद हुआ था यह अब शिष्य को स्मरण नहीं है, परन्तु यह जान पड़ता है कि लगभग सभी पण्डितों ने एक स्वर से चिल्लाकर संस्कृत में दर्शनशास्त्रों के कूट प्रश्न किये और स्वामीजी ने शान्ति तथा गम्भीरता के साथ धीरे धीरे उन सभी विषयों पर अपने सिद्धान्तों को कहा। यह भी अनुमान होता है कि स्वामीजी की संस्कृत भाषा पण्डितों की भाषा से सुनने में अधिक मधुर तथा सरस थी। पण्डितों ने भी बाद में इस बात को स्वीकार किया।

उस दिन संस्कृत भाषा में स्वामीजी का ऐसा धाराप्रवाह वार्तालाप सुनकर उनके सब गुरुभाई भी मुग्ध हो गये थे, क्योंकि वे जानते थे कि छः वर्ष यूरोप और अमरीका में रहने से स्वामीजी को संस्कृत भाषा की आलोचना करने का कोई अवसर नहीं मिला। शास्त्रदर्शी पण्डितों के साथ उस दिन स्वामीजी के ऐसे विचार सुनकर उन्होंने समझा कि स्वामीजी में अद्भुत शक्ति प्रकट हुई है। उसी सभा में श्री रामकृष्णानन्द, योगानन्द, निर्मलानन्द, तुरीयानन्द और शिवानन्द स्वामी भी उपस्थित थे।

इस विचार में स्वामीजी ने सिद्धान्तपक्ष को ग्रहण किया था और पण्डितों ने पूर्वपक्ष को लिया था। शिष्य को स्मरण है कि स्वामीजी ने एक स्थान पर 'अस्ति' के बदले 'स्वस्ति' का प्रयोग कर दिया था, इस पर पण्डित लोग हँस पड़े। पर स्वामीजी ने तत्क्षण कहा, "पण्डितानां दासोऽहं क्षन्तव्यमेतत् स्खलनम्" अर्थात् मैं पण्डितों का दास हूँ, व्याकरण की इस त्रुटि को क्षमा कीजिये। स्वामीजी की ऐसी नम्रता से पण्डित लोग मुग्ध हो गये। बहुत वादानुवाद के पश्चात् पण्डितों ने सिद्धान्तपक्ष की मीमांसा को ही यथेष्ट कहकर स्वीकार किया और स्वामीजी से प्रीतिपूर्वक

सम्भाषण करके वापस जाना निश्चित किया। उपस्थित लोगों में से दो चार लोग पण्डितों के पीछे पीछे गये और उनसे पूछा, "महाराज, आपने स्वामीजी को कैसा समझा?" उनमें से जो एक वृद्ध पण्डित थे उन्होंने उत्तर दिया, "व्याकरण में गम्भीर बोध न होने पर भी स्वामीजी शास्त्रों के गूढ़ अर्थ समझने वाले हैं; मीमांसा करने में उनके समान दूसरा कोई नहीं है और अपनी प्रतिभा से वादखण्डन में उन्होंने अद्भुत पाण्डित्य दिखलाया।"

स्वामीजी पर उनके गुरुभाइयों का सर्वदा कैसा अद्भुत प्रेम पाया जाता था! जब पण्डितों से स्वामीजी का वादानुवाद हो रहा था तब शिष्य ने स्वामी रामकृष्णानन्दजी को एकान्त में बैठे जप करते हुए पाया। पण्डितों के चले जाने पर शिष्य ने इसका कारण पूछने से उत्तर पाया कि स्वामीजी की विजय के लिए वे श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना कर रहे थे।

पण्डितों के जाने के बाद शिष्य ने स्वामीजी से सुना था कि वे पण्डित पूर्वमीमांसा-शास्त्र में निष्णात थे। स्वामीजी ने उत्तर-मीमांसा का अवलम्बन कर ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता प्रतिपादन की थी—और पण्डित लोग भी स्वामीजी के सिद्धान्त को स्वीकार करने को बाध्य हुए थे।

व्याकरण की छोटी छोटी त्रुटियों के कारण पण्डितों ने स्वामीजी की जो हँसी की थी, उस पर स्वामीजी ने कहा था कि कई वर्ष संस्कृत भाषा में वार्तालाप न करने से ऐसी भूल हुई थी, इस कारण स्वामीजी ने पण्डितों पर कुछ भी दोष नहीं लगाया। परन्तु उन्होंने यह भी कहा था—"पाश्चात्य देश में वाद—तर्क—के मूल विषयों को छोड़कर भाषा की छोटी-मोटी भूलों पर ध्यान देना बड़ी असभ्यता समझी जाती है। सभ्य समाज मूल

विषय का ही ध्यान रखते हैं—भाषा का नहीं। परन्तु तेरे देश के सब लोग छिलके पर चिपटे रहते हैं और सार वस्तु का सन्धान ही नहीं लेते।" इतना कहकर स्वामीजी ने उस दिन शिष्य से संस्कृत में वार्तालाप आरम्भ किया; शिष्य ने भी येनकेनप्रकारेण संस्कृत में ही उत्तर दिया। शिष्य का भाषाप्रयोग ठीक न होने पर भी उसको उत्साहित करने के लिए स्वामीजी ने उसकी प्रशंसा की। तब से शिष्य स्वामीजी की इच्छानुसार उनसे बीच-बीच में देवभाषा में ही वार्तालाप करता था।

'सभ्यता' किसे कहते हैं?—इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जो समाज या जो जाति आध्यात्मिक विषय में जितनी आगे बढ़ी है, वह समाज या वह जाति उतनी ही सभ्य कही जाती है। भाँति भाँति के अस्त्र-शस्त्र तथा शिल्पगृह निर्माण करके इस जीवन के सुख तथा समृद्धि को बढ़ानेवाली जाति को ही सभ्य नहीं कह सकते। आजकल की पाश्चात्य सभ्यता लोगों में दिन प्रतिदिन अभाव और 'हाय हाय' को ही बढ़ा रही है। भारत की प्राचीन सभ्यता सर्वसाधारण को आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखलाकर यद्यपि उनके इस जीवन के अभाव को पूर्ण रूप से नष्ट न कर सकी तो भी उसको बहुत कम करने में निःसन्देह समर्थ हुई थी। इस युग में इन दोनों सभ्यताओं का संयोग कराने के लिए भगवान श्रीरामकृष्ण ने जन्म लिया है। आजकल जैसे लोग कर्मतत्पर बनेंगे वैसा ही उनको गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान का भी लाभ करना होगा। इसी प्रकार से भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओं का मेल होने से संसार में नये युग का उदय होगा। इन बातों को उस दिन स्वामीजी ने विशेष रूप से समझाया। बातों बातों में ही पाश्चात्य देश के एक विषय का स्वामीजी ने

उल्लेख किया था। वहाँ के लोग विचार करते हैं कि जो मनुष्य जितना धर्मपरायण होगा वह बाहरी चालचलन में उतना ही गम्भीर बनेगा; मुख से दूसरी बातों का प्रसंग भी न करेगा। परन्तु मेरे मुँह से उदार धर्मव्याख्यान सुनकर उस देश के धर्म-प्रचारक जैसे विस्मित होते थे वैसे ही वक्तृता के अन्त में मुझको अपने मित्रों से हास्यकौतुक करते देखकर भी आश्चर्यचकित होते थे। कभी ऐसा भी हुआ है कि उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा, "स्वामीजी, धर्मप्रचारक बनकर साधारण जन के समान ऐसा हास्य-कौतुक करना उचित नहीं है। आपमें ऐसी चपलता कुछ शोभा नहीं देती।" इसके उत्तर में मैं कहा करता था कि हम आनन्द की सन्तान है, हम क्यों उदास और दुःखी बने रहें? इस उत्तर को सुनकर वे इसके मर्म को समझते थे या नहीं इसकी मुझे शंका है।

उस दिन स्वामीजी ने भावसमाधि और निर्विकल्प समाधि के विषय को भी नाना प्रकार से समझाया था। जहाँ तक सम्भव हो सका उसका पुनः वर्णन करने की चेष्टा की जा रही है।

अनुमान करो कि कोई ईश्वर की साधना कर रहा है और हनुमानजी का जैसा भगवान पर भक्तिभाव था, वैसे ही भक्ति-भाव को उसने ग्रहण किया है। अब जितना यह भाव गाढ़ा होता है, उस साधक के चाल-ढंग में भी, यहाँ तक कि शरीर की गठन में भी उतना ही वह भाव प्रकट होता है। 'जात्यन्तर परिणाम' इसी प्रकार से होता है। किसी एक भाव को ग्रहण करके साधना करने के साथ ही साधक उसी प्रकार आकार में बदल जाता है। किसी भाव की चरम अवस्था भावसमाधि कही जाती है। और 'मैं शरीर नहीं हूँ,' 'मन नहीं हूँ,' 'बुद्धि भी नहीं हूँ' इस प्रकार से 'नेति नेति' करते हुए ज्ञानी साधक जब अपनी चिन्मात्र सत्ता

में अवस्थान करते हैं, तब उस अवस्था को निर्विकल्प समाधि कहा जाता है। इस प्रकार के किसी एक भाव को ग्रहण कर उसकी सिद्धि होने में या उसकी चरम अवस्था पर पहुँचने में कितने ही जन्मों की चेष्टा की आवश्यकता होती है। भावराज्य के अधिराज श्रीरामकृष्ण कोई अठारह भिन्न भिन्न भावों से सिद्धिलाभ कर चुके थे। वे यह भी कहा करते थे कि यदि वे भावमुखी न रहते तो उनका शरीर न रहता।

भारतवर्ष में किस प्रणाली से कार्य करेंगे इसके सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा कि मद्रास और कलकत्ते में दो केन्द्र बनाकर सब प्रकार के लोककल्याण के लिए नये ढंग के साधु-संन्यासी बनायेंगे और यह भी कहा कि प्राचीन रीतियों के वृथा खण्डन से समाज तथा देश की उन्नति होना सम्भव नहीं है।

सभी कालों में प्राचीन रीतियों को नये ढंग में परिवर्तित करने से ही उन्नति हुई है। भारत में प्राचीन युग में भी धर्मप्रचारकों ने इसी प्रकार कार्य किया था। केवल बुद्धदेव के धर्म ने ही प्राचीन रीति और नीतियों का विध्वंस किया था। भारत से उसके निर्मूल हो जाने का यही कारण है।

शिष्य को स्मरण है कि स्वामीजी वार्तालाप करते हुए कहने लगे कि यदि किसी एक भी जीव में ब्रह्म का विकास हो तो सहस्रों मनुष्य उसी ज्योति से मार्ग देखकर आगे बढ़ते हैं। जो पुरुष ब्रह्मज्ञ होते हैं वे ही केवल लोकगुरु बन सकते हैं; यह बात शास्त्रों और युक्ति से प्रमाणित होती है। स्वार्थयुक्त ब्राह्मणों ने जो कुलगुरु प्रथा का प्रचार किया है वह वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है। इसीलिए साधना करने पर भी लोग अब सिद्ध या ब्रह्मज्ञ नहीं होते। भगवान श्रीरामकृष्ण धर्म की यह सब ग्लानि

दूर करने के लिए शरीर धारण करके वर्तमान युग में इस संसार में अवतीर्ण हुए थे ! उनके प्रदर्शित सार्वभौमिक मत का प्रचार होने से ही जीव और जगत् का मंगल होगा। इनसे पूर्व सभी धर्मों को समन्वय करने वाले ऐसे अद्भुत आचार्य ने कई शताब्दियों से भारतवर्ष में जन्म नहीं लिया था।

इस बात पर स्वामीजी के एक गुरुभाई ने उनसे पूछा, "महाराज, पाश्चात्य देशों में आपने सब के सामने श्रीरामकृष्ण को अवतार कहकर क्यों नहीं प्रचार किया ?"

स्वामीजी——वे दर्शन और विज्ञान शास्त्रों पर बहुत ही अभिमान करते हैं। इसी कारण युक्ति, विचार, दर्शन और विज्ञान की सहायता से जब तक उनके ज्ञान का अहंकार न तोड़ा जाय, तब तक किसी विषय की वहाँ प्रतिष्ठा नहीं होती। तर्क-विचार से कुछ पता न लगने पर तत्त्व जानने के निमित्त सचमुच उत्सुक होकर जब वे मेरे पास आते थे, तब मैं उनसे श्रीरामकृष्ण की बात किया करता था। यदि पहले से ही उनसे अवतार-वाद का प्रसंग करता तो वे बोल उठते, "तुम नयी बात क्या सिखाते हो——हमारे प्रभु ईसा भी तो हैं।"

तीन चार घण्टे तक ऐसे आनन्द से समय बिताकर अन्यान्य लोगों के साथ शिष्य कलकत्ते को लौटा।

परिच्छेद ४

स्थान—श्रीयुत नवगोपाल घोष का भवन, रामकृष्णपुर, हावड़ा।

वर्ष–१८९७ (जनवरी, फरवरी)

विषय—नवगोपाल बाबू के भवन में श्रीरामकृष्ण की मूर्ति की प्रतिष्ठा—स्वामीजी की दीनता—नवगोपाल बाबू की सपरिवार श्रीरामकृष्ण में भक्ति—श्रीरामकृष्ण का प्रणाम मन्त्र।

श्रीरामकृष्ण के प्रेमी भक्त श्रीयुत नवगोपाल घोष ने भागीरथी के पश्चिम तट पर हावड़े के अन्तर्गत रामकृष्णपुर में एक नयी हवेली बनवायी है। इसके लिए जमीन मोल लेते समय इस स्थान का नाम रामकृष्णपुर सुनकर वे विशेष आनन्दित हुए थे, क्योंकि इस गाँव के नाम की उनके इष्टदेव के नाम के साथ एकता थी। मकान बनाने के थोड़े ही दिन पश्चात् स्वामीजी प्रथम बार विलायत से कलकत्ते को लौटकर आये थे। घोषजी और उनकी स्त्री की बड़ी इच्छा थी कि अपने मकान में स्वामीजी से श्रीरामकृष्णमूर्ति की स्थापना करायें। कुछ दिन पहले, घोषजी ने मठ में जाकर स्वामीजी से अपनी इच्छा प्रकट की थी और स्वामीजी ने भी स्वीकार कर लिया था। इसी कारण आज नवगोपाल बाबू के गृह में उत्सव है। मठ के संन्यासी और श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्त सब आज सादर निमन्त्रित हुए हैं। मकान भी आज ध्वजा और पताकाओं से सुशोभित है। फाटक पर सामने पूर्ण घट रक्खा गया है, कदली स्तम्भ रोपे गये हैं, देवदार के पत्तों के तोरण बनाये हैं और आम के पत्ते और पुष्पमाला की बन्दनवार

बाँधी गयी है। रामकृष्णपुर ग्राम आज 'जय रामकृष्ण' की ध्वनि से गूंज रहा है।

मठ से संन्यासी और बालब्रह्मचारीगण स्वामीजी को साथ लेकर तीन नावों को किराये पर लेकर रामकृष्णपुर के घाट पर उपस्थित हुए। स्वामीजी के शरीर पर एक गेरुआ वस्त्र था, सिर पर पगड़ी थी और पाँव नंगे थे। रामकृष्णपुर घाट से जिस मार्ग से होकर स्वामीजी नवगोपाल बाबू के घर जाने वाले थे, उसके दोनों ओर हजारों लोग उनके दर्शन के निमित्त खड़े हो गये। नाव से घाट पर उतरते ही स्वामीजी एक भजन गाने लगे जिसका आशय यह था—"वह कौन है जो दरिद्री ब्राह्मणी की गोद में चारों ओर उजाला करके सो रहा है? वह दिगम्बर कौन है, जिसने झोपड़ी में जन्म लिया है" इत्यादि। इस प्रकार गान करते और स्वयं मृदंग बजाते हुए वे आगे बढ़ने लगे। इसी अवसर पर दो तीन और भी मृदंग बजने लगे। साथ साथ सब भक्तजन एक ही स्वर से भजन गाते हुए उनके पीछे पीछे चलने लगे। उनके उद्दाम नृत्य और मृदंग की ध्वनि से पथ और घाट सब गूंज उठे। जाते समय यह मण्डली कुछ देर डाक्टर रामलाल बाबू के मकान के सामने खड़ी हुई। डाक्टर महाशय भी जल्दी से बाहर निकल आये और मण्डली के साथ चलने लगे। सब लोगों का यह विचार था कि स्वामीजी बड़ी सजधज और आडम्बर से आयेंगे—परन्तु मठ के अन्यान्य साधुओं के समान वस्त्र धारण किये हुए और नंगे पैर मृदंग बजाते हुए उनको जाते देखकर बहुत से लोग उनको पहचान ही न सके। जब औरों से पूछकर स्वामीजी का परिचय पाया तब वे कहने लगे, "क्या, यही विश्व-विजयी स्वामी विवेकानन्दजी हैं?" स्वामीजी की इस नम्रता

को देखकर सब एक स्वर से प्रशंसा करने और 'जय श्रीरामकृष्ण' की ध्वनि से मार्ग को गुंजाने लगे।

आदर्श गृहस्थ नवगोपाल बाबू का मन आनन्द से पूर्ण है और वे श्रीरामकृष्ण की सांगोपांग सेवा के लिए बड़ी सामग्री इकट्ठी कर चारों ओर दौड़-धूप कर रहे हैं। कभी कभी प्रेमानन्द में मग्न होकर 'जयराम जयराम' शब्द का उच्चारण कर रहे हैं। मण्डली के उनके द्वार पर पहुँचते ही, भीतर से शंखध्वनि होने लगी तथा घड़ियाल बजने लगे। स्वामीजी ने मृदंग को उतारकर बैठक में थोड़ा विश्राम किया। तत्पश्चात् ठाकुरघर देखने के लिए ऊपर दुमंजिले पर गये। यह ठाकुरघर श्वेतसंगमर्मर का था। बीच में सिंहासन के ऊपर श्रीरामकृष्ण की पोरसिलेन (चिनी) की बनी हुई मूर्ति विराजमान थी। हिन्दुओं में देव-देवी के पूजन के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, उनके उपार्जन करने में कोई भी त्रुटि नहीं थी। स्वामीजी यह सब देखकर बड़े प्रसन्न हुए।

नवगोपाल बाबू की स्त्री ने अन्य स्त्रियों के साथ स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम किया और पंखा झलने लगीं। स्वामीजी से सब सामग्री की प्रशंसा सुनकर गृहस्वामिनी उनसे बोलीं, "हमारी क्या शक्ति है कि श्रीगुरुदेव की सेवा का अधिकार हमको प्राप्त हो? गृह छोटा और धन सामान्य है। आप कृपा करके आज श्रीगुरुदेव की प्रतिष्ठा कर हमको कृतार्थ कीजिये।"

स्वामीजी ने इसके उत्तर में हास्यभाव से कहा, "तुम्हारे गुरुदेव तो किसी काल में भी ऐसे श्वेत-पत्थर के मन्दिर में चौदह पीढ़ी से नहीं बसे! उन्होंने तो गाँव के फूस की झोपड़ी में जन्म लिया था और येनकेनप्रकारेण अपने दिन व्यतीत किये। ऐसी उत्तम सेवा पर प्रसन्न होकर यदि यहाँ न बसेंगे तो फिर कहाँ?"

स्वामीजी की बात पर सब हँसने लगे। अब विभूति-भूषित स्वामीजी साक्षात् महादेवजी के समान पूजक के आसन पर बैठकर, श्रीरामकृष्ण का आवाहन करने लगे।

स्वामी प्रकाशानन्दजी स्वामीजी के निकट बैठकर मन्त्रादि उच्चारण करने लगे। क्रमशः पूजा सर्वांग सम्पूर्ण हुई और आरती का शंख, घण्टा बजा। स्वामी प्रकाशानन्दजी ने ही इसका सम्पादन किया।

आरती होने पर स्वामीजी ने उस पूजा-स्थान में बैठकर ही श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रणाम मन्त्र की मौखिक रचना की।

"स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥"

सब लोगों ने इस श्लोक को पढ़कर प्रणाम किया। फिर शिष्य ने श्रीरामकृष्ण का एक स्तोत्र पाठ किया। इस प्रकार पूजा समाप्त हुई। इसके पश्चात् नीचे एकत्रित भक्त मण्डली ने कुछ भोजन करके गाना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी ऊपर ही ठहरे। गृह की स्त्रियाँ स्वामीजी को प्रणाम करके धर्मविषयों पर उनसे नाना प्रश्न करने और उनका आशीर्वाद ग्रहण करने लगीं।

शिष्य इस परिवार को श्रीरामकृष्ण में लीन देखकर विस्मित हो खड़ा रहा और इनके सत्संग से अपना मनुष्यजन्म सफल मानने लगा। इसके बाद भक्तों ने प्रसाद पाकर आचमन किया और नीचे आकर थोड़ी देर के लिए विश्राम करने लगे। सायंकाल को वे छोटे छोटे दलों में विभक्त होकर अपने अपने घर लौटे। शिष्य भी स्वामीजी के साथ गाड़ी में रामकृष्णपुर के घाट तक गये। वहाँ से नाव में बैठकर बहुत आनन्द से नाना प्रकार का वार्तालाप करते हुए बागबाजार की ओर चले।

परिच्छेद ५

स्थान—दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर और आलमबाजार मठ
वर्ष—१८९७ (मार्च)

विषय—दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का अन्तिम जन्मोत्सव—धर्मराज्य में उत्सव तथा पर्व की आवश्यकता—अधिकारियों के भेदानुसार सब प्रकार के लोकव्यवहारों की आवश्यकता—किसी भी नवीन सम्प्रदाय का गठन न करना ही स्वामीजी के धर्मप्रचार का उद्देश्य।

जब स्वामीजी प्रथम बार इंग्लैण्ड से लौटे तब आलमबाज़ार में रामकृष्ण मठ था। जिस भवन में मठ था उसे लोग 'भूतभवन' कहते थे—परन्तु वहाँ संन्यासियों के सत्संग से यह भूतभवन रामकृष्ण तीर्थ में परिणत हो गया था। वहाँ के साधन-भजन, जप, तपस्या, शास्त्र-प्रसंग और नामकीर्तन का क्या ठिकाना था! कलकत्ते में राजाओं के समान सम्मान प्राप्त होने पर भी स्वामीजी उस टूटे-फूटे मठ में ही रहने लगे। कलकत्तानिवासियों ने उन पर श्रद्धान्वित होकर कलकत्ते की उत्तर दिशा काशीपुर में गोपाललाल शील के बाग में एक स्थान एक मास के लिए निर्धारित किया था। वहाँ भी स्वामीजी कभी कभी रहकर दर्शनोत्सुक लोगों से धर्मचर्चा करके उनके मन की इच्छा पूर्ण करने लगे।

श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव अब निकट है। इस वर्ष दक्षिणेश्वर, रानी रासमणि के काली मन्दिर में उत्सव के लिए काफी जोरों से तैयारी हुई हैं। प्रत्येक धर्मपिपासु मनुष्य के आनन्द और उत्साह की कोई सीमा नहीं है; रामकृष्ण-सेवकों का तो कहना

ही क्या है ! इसका विशेष कारण यह है कि विश्वविजयी स्वामीजी श्रीरामकृष्ण की भविष्यवाणी को सफल करके इस वर्ष विलायत से लौट आये हैं। उनके सब गुरुभाई आज उनसे मिलकर श्रीरामकृष्ण के सत्संग का आनन्द अनुभव कर रहे हैं। माँ काली के मन्दिर की दक्षिण दिशा में प्रसाद बन रहा है। स्वामीजी कुछ गुरुभाइयों को अपने साथ लेकर नौ-दस बजे के लगभग आ पहुँचे। उनके पैर नंगे थे और सिर पर गेरुए रंग की पगड़ी थी। उनकी आनन्दित मूर्ति का दर्शन कर चरणकमलों का स्पर्श करने और उनके श्रीमुख से जाज्वल्य अग्निशिखा के सदृश कथाओं को सुनकर कृतार्थ होने के लिए लोग चारों ओर से आने लगे। इसी कारण आज स्वामीजी के विश्राम के लिए तनिक भी अवसर नहीं है। माँ काली के मन्दिर के सामने हजारों लोग एकत्रित हैं। स्वामीजी ने जगन्माता को भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया और उनके साथ ही साथ सहस्रों और लोगों ने भी उसी तरह वन्दना की। तत्पश्चात् श्रीराधाकान्तजी की मूर्ति को प्रणाम करके श्रीरामकृष्ण के वासगृह में पधारे। यहाँ ऐसी भीड़ हुई कि तिल भर स्थान शेष न रहा। काली मन्दिर की चारों दिशाएँ 'जय रामकृष्ण' शब्द से भर गयी। होरमिलर (Hoarmiller) कम्पनी का जहाज़ लाखों दर्शकों को आज अपनी गोद में बिठाकर बराबर कलकत्ते से ला रहा है। नौबत आदि के मधुर स्वर पर सुरधुनी गंगा नृत्य कर रही है। मानो उत्साह, आकांक्षा, धर्मपिपासा और अनुराग साक्षात् देह धारणकर श्रीरामकृष्ण के पार्षदों के रूप में चारों ओर विराजमान हैं। इस वर्ष के उत्सव का अनुमान ही किया जा सकता है। भाषा में इतनी शक्ति कहाँ कि उसका वर्णन कर सकें।

स्वामीजी के साथ आयी हुई दो अंग्रेज महिलाएँ उत्सव में

उपस्थित हैं। उनसे शिष्य अभी तक परिचित न था। स्वामीजी उनको साथ लेकर पवित्र पंचवटी और बिल्ववृक्ष को दिखला रहे थे। स्वामीजी से शिष्य का विशेष परिचय न होने पर भी उनके पीछे पीछे जाकर उत्सवविषयक स्वरचित एक संस्कृत स्तोत्र उनके हाथ में दिया। स्वामीजी भी उसे पढ़ते हुए पंचवटी की ओर चले। चलते चलते शिष्य की ओर देखकर बोले, "अच्छा लिखा है, तुम और भी लिखना।"

पंचवटी के एक ओर श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्तगण एकत्रित हैं। गिरीशचन्द्र घोष पंचवटी की उत्तर दिशा में गंगा की ओर मुँह किये बैठे हैं और उनको घेरे बहुत से भक्त श्रीरामकृष्ण के गुणों के व्याख्यान और कथाप्रसंग में मग्न हुए बैठे हैं। इसी अवसर पर बहुत से लोगों के साथ साथ स्वामीजी गिरीशचन्द्रजी के पास उपस्थित हुए और "अरे! घोषजी यहाँ हैं!" यह कहकर उनको प्रणाम किया। गिरीशबाबू को पिछली बातों का स्मरण कराकर स्वामीजी बोले, "घोषजी, वह भी एक समय था और यह भी एक समय है।" गिरीशबाबू स्वामीजी से सहमत हो बोले, "हाँ, बहुत ठीक; किन्तु अभी तक मन चाहता है कि और भी देखूँ।" दोनों में जो ऐसा वार्तालाप हुआ, उसका गूढ़ अर्थ ग्रहण करने में और कोई समर्थ न हुआ। कुछ देर वार्तालाप कर स्वामीजी पंचवटी की उत्तर-पूर्व दिशा में जो बिल्ववृक्ष था, वहाँ चले गये। स्वामीजी के चले जाने पर गिरीशबाबू ने उपस्थित भक्तमण्डली को सम्बोधन करके कहा, "एक दिन हरमोहन मित्र ने संवाद-पत्र में पढ़कर मुझसे कहा था कि अमरीका में स्वामीजी के नाम पर निन्दा प्रकाशित की गयी है। मैंने तब उनसे कहा था कि यदि मैं अपनी आँखों से नरेन्द्र को कोई बुरा काम करते देखूँ

तो यह अनुमान करूँगा कि मेरी आँखों में विकार उत्पन्न हुआ है और उनको निकाल दूँगा। वे (नरेन्द्रादि) सूर्योदय से पहले निकाले हुए माखन के सदृश स्वच्छ और निर्मल हैं; क्या संसार-रूपी पानी में वे फिर घुल सकते हैं? जो उनमें दोष निकालेगा वह नरक का भागी होगा।" यह वार्तालाप हो ही रहा था कि स्वामी निरंजनानन्दजी गिरीशबाबू के पास आये और कोलम्बो से कलकत्ते तक लौटने की घटना--किस प्रकार लोगों ने स्वामीजी का आदर और सत्कार किया और स्वामीजी ने अपनी वक्तृता में उनको कैसा अनमोल उपदेश दिया--आदि का वर्णन करने लगे। गिरीशबाबू इन बातों को सुनकर आश्चर्यचकित हो बैठे रहे।

उस दिन दक्षिणेश्वर के देवालय में इस प्रकार दिव्य भाव का प्रवाह बह रहा था। अब यह विराट जनसंघ स्वामीजी की वक्तृता को सुनने के लिए उद्ग्रीव होकर खड़ा हो गया। परन्तु अनेक चेष्टा करने पर भी स्वामीजी लोगों के कोलाहल की अपेक्षा ऊँचे स्वर से वक्तृता न दे सके। लाचार होकर उन्होंने इस उद्यम का परित्याग किया और दोनों अंग्रेज़ महिलाओं को साथ लेकर श्रीरामकृष्ण का साधना-स्थान दिखाने और उनके बड़े बड़े सांगोपांग भक्तों से परिचय कराने लगे। धर्मशिक्षा के निमित्त ये दो अंग्रेज़ स्त्रियाँ बहुत दूर से स्वामीजी के साथ आयी हैं यह जानकर किसी किसी को बहुत आश्चर्य हुआ और वे स्वामीजी की अद्भुत शक्ति की प्रशंसा करने लगे।

तीसरे पहर तीन बजे स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "एक गाड़ी लाओ, मठ को जाना है।" शिष्य आलमबाजार तक के लिए दो आने किराये पर एक गाड़ी साथ ले आया। स्वामीजी उसमें बैठकर स्वामी निरंजनानन्दजी और शिष्य को साथ ले बड़े

आनन्द से मठ को चले। जाते जाते शिष्य से कहने लगे, "जिन भावों की अपने जीवन या कार्य में स्वयं सफलता प्राप्त न की हो, उन भावों की केवल चर्चा मात्र से क्या होता है? यही सब उत्सवों का भी अभिप्राय है कि इन्हींसे तो सर्वसाधारण में ये सब भाव धीरे धीरे फैलेंगे। हिन्दुओं के बारह महीनों में कितने ही पर्व होते हैं और उनका उद्देश्य यही है कि धर्म में जितने बड़े बड़े भाव हैं उनको सर्वसाधारण में फैलायें। परन्तु इसमें एक दोष भी है। साधारण लोग इनका यथार्थ भाव न जान उत्सवों में ही मग्न हो जाते हैं और उनकी पूर्ति होने पर कुछ लाभ न उठा ज्यों के त्यों बने रहते हैं। इस कारण ये उत्सव धर्म के बाहरी वस्त्र के समान धर्म के यथार्थ भावों को ढाँके रहते हैं।

परन्तु इनमें से कुछ लोग "धर्म और आत्मा क्या है" यह न जानने पर भी इनसे यथार्थ धर्म जानने की चेष्टा करेंगे। आज जो श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ है इसमें जो लोग आये थे उनके हृदय में श्रीगुरुदेव के विषय में जानने की—वे कौन थे जिनके नाम पर इतने लोग एकत्रित हुए और उन्हींके नाम पर क्यों वे आये हैं—इच्छा अवश्य उत्पन्न होगी। और जिनके मन में यह भाव भी न हुआ हो वे वर्ष में एक बार भजन सुनने तथा प्रसाद पाने के निमित्त भी आयेंगे, तो भी श्रीगुरुदेव के भक्तों के दर्शन अवश्य होंगे, जिनसे उनका उपकार ही होगा, न कि अपकार।"

शिष्य—यदि कोई इस उत्सव और भजन-गान को ही धर्म का सार समझ लें तो क्या वे भी धर्ममार्ग में और आगे बढ़ सकेंगे? हमारे देश में जैसे षष्ठीपूजा, मंगलचण्डीपूजा आदि नित्यनैमित्तिक हो गयी हैं वैसे ही ये भी हो जायेंगे। इस प्रकार बहुत लोग मृत्यु काल तक पूजा करते रहते हैं, परन्तु मैंने तो ऐसा कोई भी

मनुष्य नहीं देखा जो ऐसे पूजन करते करते ब्रह्मज्ञ हो गया हो।

स्वामीजी—क्यों, इस भारत में जितने धर्मवीरों ने जन्म लिया वे सब इन्हीं पूजाओं के आश्रय से आगे बढ़े और ऊँची अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इन्हीं पूजाओं का आश्रय लेकर साधना करते हुए जब वे आत्मदर्शन करते हैं, तब इन पर उनका कुछ भी ध्यान नहीं रहता; परन्तु लोकसंस्थिति के लिए अवतार-सदृश महापुरुषगण भी इन सभी को मानते हैं।

शिष्य—हाँ लोगों को दिखाने के लिए ऐसा मान सकते हैं, किन्तु जब आत्मज्ञ पुरुषों को यह संसार ही इन्द्रजालवत् मिथ्या प्रतीत होता है, तब क्या वे इन सब बाहरी लौकिक व्यवहारों को सत्यभाव से मान सकते हैं?

स्वामीजी—क्यों नहीं? जिनको हम सत्य समझते हैं वे भी तो देश, काल और पात्र के अनुसार भिन्न भिन्न (Relative) होते हैं। इसी कारण अधिकारियों के भेदानुसार इन सब व्यवहारों का प्रयोजन है। जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "माता किसी सन्तान को पुलाव और कलिया पकाकर देती है और किसी को साबूदाना देती है।" उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।

अब इन उत्तरों को सुन और समझ कर शिष्य चुप हो गया। इसी समय गाड़ी भी आलमबाजार के मठ में आ पहुँची। शिष्य गाड़ी का किराया देकर स्वामीजी के साथ मठ में गया और स्वामीजी के पीने के लिए जल ले आया। स्वामीजी ने जलपान कर अपना कुर्ता उतार डाला और जमीन पर जो दरी बिछी थी उसी पर अर्द्ध शयन करते हुए विश्राम करने लगे। स्वामी निरंजनानन्दजी जो पास ही विराजमान थे, बोले, "उत्सव में ऐसी

भीड़ इसके पहले कभी नहीं हुई थी, मानो पूरा कलकत्ता यहाँ टूट पड़ा है।"

स्वामीजी—इसमें आश्चर्य ही क्या है, आगे न जाने क्या क्या होगा!

शिष्य—प्रत्येक धर्मसम्प्रदाय में यह पाया जाता है कि किसी न किसी प्रकार का बाहरी उत्सव और आमोद मनाया जाता है, परन्तु कोई भी किसी से मेल नहीं रखता! ऐसे उदार मोहम्मदीय धर्म में भी शीया-सुन्नियों में दंगा तथा फिसाद होता है। मैंने यह ढाका शहर में देखा है।

स्वामीजी—सम्प्रदाय होने पर थोड़ा-बहुत ऐसा अवश्य होगा ही, परन्तु क्या तू यहाँ के भाव को जानता है? हम तो कोई भी सम्प्रदायी नहीं। हमारे गुरुदेव ने इसी को दिखलाने के निमित्त जन्म लिया था। वे सब कुछ मानते थे, परन्तु यह भी कहते थे कि ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से यह सब मिथ्या माया ही है।

शिष्य—महाराज, आपकी बात समझ में नहीं आती। मेरे मन में कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि आप भी ऐसे उत्सवों का प्रचार करके श्रीरामकृष्ण के नाम से एक नये सम्प्रदाय को जन्म दे रहे हैं। मैंने पूज्यपाद नाग महाशय से सुना है कि श्रीगुरुदेव किसी भी सम्प्रदाय में नहीं थे। शाक्त, वैष्णव, ब्राह्मसमाजी, मुसलमान, ईसाई इन सभी धर्मों का वे बहुत मान करते थे।

स्वामीजी—तूने कैसे समझा कि हम सब मतों का उसी प्रकार मान नहीं करते?

यह कहकर स्वामीजी हँसकर स्वामी निरंजनानन्दजी से बोले, "अरे! यह गँवार कहता क्या है?"

शिष्य---कृपा करके इस बात को तो मुझे समझा दीजिये।

स्वामीजी---तूने तो मेरी वक्तृताएँ पढ़ी हैं। क्या कहीं भी मैंने श्रीरामकृष्ण का नाम लिया है? मैंने तो जगत् में केवल उपनिषदों के धर्म का ही प्रचार किया है।

शिष्य---महाराज, यह तो ठीक है। परन्तु आपसे परिचय होने पर मैं देखता हूँ कि आप श्रीरामकृष्ण में लीन हैं। यदि आपने श्रीगुरुदेव को भगवान् जाना है तो क्यों नही लोगों से आप यह स्पष्ट कह देते?

स्वामीजी---मैंने जो अनुभव किया है वही बतलाया है। यदि तूने वेदान्त के अद्वैत मत को ही ठीक माना है तो क्यों नहीं लोगों को भी यह समझा देता?

शिष्य---प्रथम मैं स्वयं अनुभव करूँगा, तभी तो समझाऊँगा। मैंने तो केवल इस मत को पढ़ा ही है।

स्वामीजी---तब पहले तू इसकी अनुभूति कर ले। फिर लोगों को समझा सकेगा। वर्तमान में तो प्रत्येक मनुष्य एक एक मत पर विश्वास करके चल रहा है इसमें तो तू कुछ कह ही नहीं सकता, क्योंकि तू भी तो अभी एक मत पर ही विश्वास करके चल रहा है।

शिष्य---हाँ महाराज, यह सत्य है कि मैं भी एक मत पर विश्वास करके चल रहा हूँ, किन्तु मैं इसका प्रमाण शास्त्र से देता हूँ। मैं शास्त्र के विरोधी मत को नहीं मानता।

स्वामीजी---शास्त्र से तेरा क्या अर्थ है? यदि उपनिषदों को प्रमाण माना जाय तो क्या बाइबिल, जेन्दावस्ता भी न माने जायें?

शिष्य---यदि इन पुस्तकों को प्रमाण स्वीकार करें भी, तो वेद के समान वे प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं। और वेद में जैसा आत्मतत्त्व-

समाधान है वैसा और किसी में है भी नहीं ।

स्वामीजी—अच्छा तेरी यह बात मैंने स्वीकार की, परन्तु वेद के अतिरिक्त और कहीं भी सत्य नहीं है यह कहने का तेरा क्या अधिकार है ?

शिष्य—जी महाराज, वेद के अतिरिक्त और सब धर्मग्रन्थों में भी सत्य हो सकता है, इसके विरुद्ध मैं कुछ नहीं कहता, किन्तु मैं तो उपनिषद् के मत को ही मानूंगा । इसी में मेरा परम विश्वास है ।

स्वामीजी—अवश्य मानो; परन्तु यदि किसी का अन्य किसी मत पर "परम" विश्वास हो तो उसको उसी विश्वास पर चलने दो । अन्त में देखोगे तुम और वह एक ही स्थान पर पहुँचोगे । महिम्न स्तोत्र में क्या तूने नहीं पढ़ा है, "त्वमसि पयसामर्णव इव ?"

परिच्छेद ६

स्थान—आलमबाज़ार मठ

वर्ष—१८९७ (मई)

विषय—स्वामीजी का शिष्य को दीक्षादान—दीक्षा से पूर्व प्रश्न—यज्ञसूत्र की उत्पत्ति के विषय में वेदों का मत—जिससे अपना मोक्ष और जगत् के कल्याणचिन्तन में मन को सर्वदा मग्न रख सके वही दीक्षा—अहंभाव से पाप-पुण्य की उत्पत्ति—आत्मा का प्रकाश छोटे 'अहं' के त्याग ही में—मन के नाश में ही यथार्थ अहंभाव का प्रकाश, और वास्तव में यही अहं का स्वरूप—"कालेनात्मनि विन्दति ।"

स्वामीजी दार्जिलिंग से कलकत्ते को लौटे हैं और आलमबाज़ार मठ में ही ठहरे हैं। गंगा के किनारे किसी स्थान पर मठ को स्थानान्तरित करने का प्रबन्ध हो रहा है। आजकल उनके पास शिष्य का प्रतिदिन आना-जाना रहता है, और कभी कभी रात्रि में भी वह वही रह जाता है। जीवन के प्रथम पथप्रदर्शक नाग महाशय ने शिष्य को गुरुदीक्षा नहीं दी थी। दीक्षाविषय में वार्तालाप होते ही वे स्वामीजी का नाम लेकर कहते थे, "वे (स्वामीजी) ही जगत् के गुरु होने के योग्य हैं।" इसी कारण, स्वामीजी से ही दीक्षाग्रहण करने का संकल्प कर शिष्य ने दार्जिलिंग को एक पत्र उनके पास भेजा था। उत्तर में स्वामीजी ने लिखा था, "यदि नाग महाशय को कोई आपत्ति न हो तो मैं बड़े आनन्द से तुमको दीक्षा दूँगा।" यह पत्र शिष्य के पास अभी तक है।

आज वैशाख १३०३ (बंगला सन) का उन्नीसवाँ दिन है।

स्वामीजी ने शिष्य को आज दीक्षा देना स्वीकार किया है। आज शिष्य के जीवन में सभी दिनों की अपेक्षा एक विशेष दिन है। शिष्य प्रात:काल ही गंगास्नान कर कुछ लीची तथा अन्यान्य सामग्री मोल लेकर लगभग आठ बजे आलमबाजार मठ में उपस्थित हुआ। शिष्य को देखकर स्वामीजी ने हँसकर कहा, "आज तुम्हें बलिदान देना होगा, क्यों ?"

स्वामीजी शिष्य से यह कहकर फिर औरों के साथ अमरीका के सम्बन्ध में वार्तालाप करने लगे। धर्मजीवन के गठन करने में किस प्रकार एकनिष्ठ होना पड़ता है, गुरु पर किस प्रकार अटल विश्वास एवं दृढ भक्तिभाव होना चाहिए, गुरुवाक्यों पर किस प्रकार निर्भर रहना चाहिए और गुरु के निमित्त अपने प्राण तक देने को भी किस प्रकार प्रस्तुत रहना चाहिए—आदि आदि बातों की भी चर्चा होने लगी। तत्पश्चात् शिष्य के हृदय की परीक्षा करने के निमित्त कुछ प्रश्न करने लगे, "मैं जब भी जिस काम की आज्ञा दूँगा क्या तू तुरन्त उस आज्ञा का पालन करने की यथाशक्ति चेष्टा करेगा ? तेरा मंगल समझकर यदि मैं तुझे गंगा में डूबकर मर जाने की या छत से कूद पड़ने की आज्ञा दूँ, तो क्या तू बिना विचारे इसका पालन करेगा ? अब भी तू विचार कर ले। बिना बिचारे गुरु करने को तैयार न हो।" शिष्य के मन में कैसा बिश्वास है यही जानने के लिए वे कुछ ऐसे प्रश्न करने लगे। शिष्य भी सिर झुकाये "पालन करूँगा" कहकर प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने लगा।

स्वामीजी कहने लगे—"वही सच्चा गुरु है, जो इस मायारूपी संसार के पार ले जाता है, जो कृपा करके सब मानसिक आधि-व्याधि बिनष्ट करता है। पूर्वकाल में शिष्यगण समित्पाणि होकर

गुरु के आश्रम में जाया करते थे। गुरु उनको अधिकारी समझने पर दीक्षादान करके वेद पढ़ाते थे और तन-मन-वाक्य-दण्डरूप व्रत के चिह्नस्वरूप त्रिरावृत्त मूँज-मेखला उसकी कमर में बाँध देते थे। शिष्य अपनी कौपीनों को उससे तानकर बाँधते थे। उस मूँज-मेखला के स्थान पर अब यज्ञसूत्र या जनेऊ पहिनने की रीति निकली है।"

शिष्य—हम सूत के जो उपवीत धारण करते है, क्या यह वैदिक प्रथा नहीं है ?

स्वामीजी—वेद में कहीं सूत के उपवीत का प्रसंग नहीं है। स्मार्त पण्डित रघुनन्दन ने भी लिखा है—"अस्मिन्नेव समये यज्ञ-सूत्रं परिधापयेत्।" ऐसे उपवीत का प्रसंग गोभिल के गृह्यसूत्र में भी नहीं है। गुरु के पास होनेवाले इस वैदिक संस्कार को ही शास्त्रों में उपनयन कहा गया है; परन्तु आजकल देश की कैसी दुरवस्था हो गयी है! शास्त्रपथ को छोड़कर केवल कुछ देशाचार, लोकाचार तथा स्त्री-आचार से सारा देश भरा हुआ है। इसी कारण मैं कहता हूँ कि जैसा प्राचीनकाल में था वैसा ही काम शास्त्र के अनुसार करते जाओ। स्वयं श्रद्धावान् होकर अपने देश में भी श्रद्धा लाओ। अपने हृदय में नचिकेता के समान श्रद्धा लाओ। नचिकेता के समान यमलोक में चले जाओ। आत्मतत्त्व जानने के लिए, आत्मा के उद्धार के लिए, इस जन्म-मृत्यु की समस्या की यथार्थ मीमांसा के लिए यदि यम के द्वार पर भी जाकर सत्य का लाभ कर सको, तो निर्भय हृदय से वहाँ जाना उचित है। भय ही मृत्यु है। भय से पार हो जाना चाहिए। आज से ही भयशून्य हो जाओ। अपने मोक्ष तथा परहित के निमित्त आत्मोत्सर्ग करने के लिए अग्रसर हो जाओ। थोड़ी सी

हड्डी तथा मांस का बोझ लिये फिरने से क्या होगा ? ईश्वर के निमित्त सर्वस्व-त्यागरूप मन्त्र में दीक्षा ग्रहण करके दधीचि मुनि के समान औरों के निमित्त अपनी हड्डी और मांस दान कर दो। शास्त्र में लिखा है कि जो अधीतवेदवेदान्त हैं, जो ब्रह्मज्ञ हैं, जो अन्य को भय के पार ले जाने में समर्थ हैं, वे ही यथार्थ गुरु हैं। उनके दर्शन पाते ही उनसे दीक्षित होना उचित है; "नात्र कार्या विचारणा।" आजकल वह रीति कहाँ पहुँची है ? देखो तो—"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।"

अब नौ बजे का समय है। स्वामीजी आज गंगास्नान करने नहीं गये, मठ में ही स्नान किया। स्नान के बाद एक नया गेरुए रंग का वस्त्र पहन कर धीरे से पूजा-घर में प्रवेश करके आसन पर बैठ गये। शिष्य ने वहाँ प्रवेश नहीं किया, परन्तु बाहर ही प्रतीक्षा करने लगा—'स्वामीजी जब बुलायेंगे तभी भीतर जाऊँगा।' अब स्वामीजी ध्यानस्थ हुए—मुक्त-पद्मासन, ईषन्मुद्रित नयन से ऐसा अनुमान होता था कि तन-मन-प्राण सब स्पन्दहीन हो गया है। ध्यान के अन्त में स्वामीजी ने "वत्स, इधर आओ" कहकर बुलाया। शिष्य स्वामीजी के स्नेहयुक्त आह्वान से मुग्ध होकर यन्त्रवत् पूजा-घर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ प्रवेश करते ही स्वामीजी ने शिष्य को आदेश किया "द्वार बन्द करो।" द्वार के बन्द करने पर स्वामीजी ने कहा "मेरे वामपार्श्व में स्थिर होकर बैठो।" स्वामीजी के आदेश को शिरोधार्य करके शिष्य आसन पर बैठा। उस समय कैसे एक अनिर्वचनीय, अपूर्व भाव से उसका हृदय थर थर काँप रहा था। इसके अनन्तर स्वामीजी ने अपने हस्तकमल को शिष्य के मस्तक पर रखकर उससे दो चार गुह्य बातें पूछीं। उनका यथासाध्य उत्तर देने पर स्वामीजी ने उसके कान में

महाबीज मन्त्र तीन बार उच्चारण किया और शिष्य से तीन बार उच्चारण करवाया। उसके बाद साधना के विषय में कुछ उपदेश प्रदान करके निश्चल होकर अनिमेष नेत्रों से शिष्य के नेत्रों की ओर कुछ देर तक देखते रहे। अब शिष्य का मन स्तब्ध और एकाग्र हो जाने से वह एक अनिर्वचनीय भाव से निश्चल होकर बैठा रहा। कितनी देर तक इस अवस्था में रहा, इसका अब कुछ ध्यान ही नहीं रहा। इसके बाद स्वामीजी बोले, "गुरुदक्षिणा लाओ।" शिष्य ने कहा, "क्या लाऊँ?" यह सुनकर स्वामीजी ने आज्ञा दी, "भण्डार से कुछ फल ले आओ।" शिष्य भागता हुआ भण्डार को गया और दस बारह लीची ले आया। स्वामीजी अपने हाथ में लीची लेकर एक एक करके सब खा गये और बोले— "अच्छा, तेरी गुरुदक्षिणा हो गयी।" जिस समय पूजागृह में स्वामीजी से शिष्य दीक्षित हो रहा था उसी समय मठ का एक और व्यक्ति दीक्षित होने के लिए कृतसंकल्प हो द्वार के बाहर खड़ा था। स्वामी शुद्धानन्दजी ने उस समय तक ब्रह्मचारी अवस्था में मठ में रहने पर भी यथाविधि दीक्षा ग्रहण नहीं की थी। आज शिष्य को इस प्रकार से दीक्षित होते देख उन्होंने भी बड़े उत्साह से दीक्षा लेना निश्चिय किया और पूजा-घर से दीक्षित होकर शिष्य के निकलते ही वे वहाँ जा पहुँचे और स्वामीजी से अपना अभिप्राय प्रकट किया। स्वामीजी भी शुद्धानन्दजी के विशेष आग्रह से सम्मत हो गये और पुनः पूजा करने को आसन ग्रहण किया।

फिर, शुद्धानन्दजी को दीक्षा देने के कुछ समय बाद स्वामीजी पूजा-घर से बाहर निकल आये। कुछ देर बाद उन्होंने भोजन किया और फिर विश्राम करने लगे। शिष्य ने भी शुद्धानन्दजी

के साथ स्वामीजी के पात्रावशेष को बड़े प्रेम से ग्रहण किया और उनके पायँते बैठकर धीरे धीरे उनकी चरणसेवा करने लगा। कुछ देर विश्राम के बाद स्वामीजी ऊपर की बैठक में जाकर बैठे। शिष्य ने भी उस समय सुअवसर पाकर उनसे प्रश्न किया— "महाराज, पाप और पुण्य का भाव कहाँ से उत्पन्न हुआ?"

स्वामीजी—बहुत्व के भाव से यह सब आ पहुँचा है। मनुष्य एकत्व की ओर जितना बढ़ता जाता है उतना ही "हम-तुम" का भाव कम होता जाता है, जिसमें से कि सारा धर्माधर्म इत्यादि द्वन्द्वभाव उत्पन्न हुआ है। हमसे यह पृथक् है ऐसा भाव मन में उत्पन्न होने से ही अन्यान्य द्वन्द्व भावों का विकास होता है, किन्तु सम्पूर्ण एकत्व अनुभव होने पर मनुष्य का शोक या मोह नहीं रह जाता—"तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:।" सब प्रकार की दुर्बलता को ही पाप कहते हैं (Weakness is sin)। इससे हिंसा तथा द्वेष आदि का जन्म होता है। इसलिए दुर्बलता का दूसरा नाम पाप है। हृदय में आत्मा सर्वदा प्रकाशमान है, परन्तु उधर कोई ध्यान नहीं देता। केवल इस जड़ शरीर हड्डी तथा मांस के एक अद्भुत पिंजरे पर ही ध्यान रखकर "मैं, मैं" करते हैं। यही सब प्रकार की दुर्बलता का मूल है। इस अध्यास से ही जगत् में व्यावहारिक भाव निकले हैं, परन्तु परमार्थ भाव इस द्वन्द्वभाव के परे वर्तमान है।

शिष्य—तो क्या इस सब व्यावहारिक सत्ता में कुछ भी सत्य नहीं है?

स्वामीजी—जब तक "मैं शरीर हूँ" यह ज्ञान है, तब तक ये सत्य हैं। किन्तु "जब मैं आत्मा हूँ" यह अनुभव होता है, तब यह सब व्यावहारिक सत्ता मिथ्या प्रतीत होती है। लोग जिसे पाप

कहते हैं, वह दुर्बलता का फल है। इस शरीर को "मैं" जानना—यह अहंभाव—दुर्बलता का रूपान्तर है। जब "मैं आत्मा हूँ" इसी भाव पर मन स्थिर होगा, तब तुम पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म के पार पहुँच जाओगे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "मैं" के नाश में ही दुःख का अन्त है।

शिष्य—यह "अहं" तो मरने पर भी नहीं मरता। इसको मारना बड़ा कठिन है।

स्वामीजी—हाँ। एक प्रकार से यह कठिन भी है, परन्तु दूसरे प्रकार से बड़ा सरल भी है। "मैं" यह पदार्थ कहाँ है क्या मुझे समझा सकता है? जो स्वयं है ही नहीं उसका मरना और जीना कैसा? अहंरूप जो एक मिथ्या भाव है उसी से मनुष्य मोहित (hypnotised) है, बस। इस पिशाच से मुक्ति प्राप्त होने पर यह स्वप्न दूर हो जाता है और दीख पड़ता है कि एक आत्मा आब्रह्मस्तम्ब तक सब में विराजित है। इसीको जानना होगा, प्रत्यक्ष करना पड़ेगा। जो भी साधन-भजन हैं, वे सब इस आवरण को दूर करने के निमित्त हैं। इसके हटने से ही विदित होगा कि चित् सूर्य अपनी प्रभा से स्वयं चमक रहा है; क्योंकि आत्मा ही एक मात्र स्वयंज्योति—स्वयंवेद्य है, वह क्या दूसरे की सहायता से जानी जा सकती है? इसी कारण श्रुति कहती है, "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।" तू जो कुछ जानता है, वह मन की सहायता से, किन्तु मन तो जड़ वस्तु है। उसके पीछे शुद्ध आत्मा रहने के कारण मन का कार्य होता है। इसी कारण से मन के द्वारा उस आत्मा को कैसे जानोगे? इससे तो यह जान पड़ता है कि मन या बुद्धि कोई भी शुद्धात्मा के पास नहीं पहुँच सकती है। ज्ञान की पहुँच यहीं तक है। परन्तु आगे जब मन विकल्परहित या

वृत्तिहीन होता है, तभी मन का लोप होता है और तभी आत्मा प्रत्यक्ष होती है। इस अवस्था का वर्णन भाष्यकार श्रीशंकराचार्य ने "अपरोक्षानुभूति" कहकर किया है।

शिष्य—किन्तु महाराज, मन ही तो "अहं" है। मन का यदि लोप हुआ तो "मैं" कहाँ रहा?

स्वामीजी—वह जो अवस्था है, यथार्थ में वही "अहं" का स्वरूप है। उस समय का जो "अहं" रहेगा वह सर्वभूतस्थ, सर्वगत सर्वान्तरात्मा होता है। घटाकाश टूटकर महाकाश का प्रकाश होता है—घट टूटने पर क्या उसके अन्दर के आकाश का विनाश हो जाता है? इसी प्रकार यह छोटा "अहं" जिसे तू शरीर में बन्द समझता था, फैलकर सर्वगत "अहं" या आत्मरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है। अतएव मैं कहता हूँ कि मन मरा या रहा इससे यथार्थ अहं या आत्मा का क्या? यह बात समय आने पर तुझे प्रत्यक्ष होगी "कालेनात्मनि विन्दति।" श्रवण और मनन करते करते इस बात की अनुभूति होगी और तब तू मन के अतीत चला जायगा, तब ऐसे प्रश्न करने का अवसर भी न रहेगा।

शिष्य यह सुन स्थिर होकर बैठा रहा। स्वामीजी ने फिर कहा—"इसी सहज विषय को समझाने के लिए कितने ही शास्त्र लिखे गये हैं; तिस पर भी लोग इसको नहीं समझ सकते। आपात-मधुर चांदी के चमकते रुपये और स्त्रियों के क्षणभंगुर सौन्दर्य से मोहित होकर इस दुर्लभ मनुष्यजन्म को कैसे खो रहे हैं! महामाया का आश्चर्यजनक प्रभाव है! माता महामाया रक्षा करो! माता महामाया रक्षा करो!"

परिच्छेद ७

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७

विषय—स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में स्वामीजी का मत—महाकाली पाठशाला का परिदर्शन और प्रशंसा—अन्य देश की स्त्रियों के साथ भारतीय महिलाओं की तुलना एवं उनका विशेषत्व—स्त्री और पुरुष सब को शिक्षा देना कर्तव्य—किसी भी सामाजिक नियम को बल से तोड़ना उचित नहीं—शिक्षा के प्रभाव से लोग बुरे नियमों को स्वयं छोड़ देंगे।

स्वामीजी अमरीका से लौटकर कुछ दिनों से कलकत्ते में बलराम बसुजी के बागबाजारवाली उद्यानवाटिका में ही ठहरे हैं। कभी कभी परिचित व्यक्तियों से मिलने उनके स्थान पर भी जाते हैं। आज प्रात:काल शिष्य जब स्वामीजी के पास आया तब उसने उनको बाहर जाने के लिए तैयार पाया। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "मेरे साथ चल।" यह कहते कहते स्वामीजी सीढ़ियों से नीचे उतरने लगे। शिष्य भी पीछे पीछे चला। स्वामीजी शिष्य के साथ एक किराये की गाड़ी में सवार हुए, गाड़ी दक्षिण की ओर चली।

शिष्य—महाराज, कहाँ चल रहे हैं?

स्वामीजी—चलो, अभी मालूम हो जायगा।

स्वामीजी कहाँ जा रहे हैं इस विषय में उन्होंने शिष्य से कुछ भी नहीं कहा। गाड़ी के बिडनस्ट्रीट में पहुँचने पर कथाप्रसंग में कहने लगे, "तुम्हारे देश में स्त्रियों के पठनपाठन के लिए कुछ भी

प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। तुम स्वयं पठनपाठन करके योग्य बन रहे हो, किन्तु जो तुम्हारे सुखदु:ख की भागी हैं—प्रत्येक समय में प्राण देकर सेवा करती हैं—उनकी शिक्षा के लिए, उनके उत्थान के लिए तुमने क्या किया है ? "

शिष्य—क्यों महाराज, आजकल तो स्त्रियों के लिए कितनी ही पाठशालाएँ तथा उच्चविद्यालय बन गये हैं, कितनी ही स्त्रियाँ एम्. ए., बी. ए. परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गयी हैं।

स्वामीजी—यह तो विलायती ढंग पर हो रहा है। तुम्हारे धर्मशास्त्र और देश की परिपाटी के अनुसार क्या कहीं भी कोई पाठशाला बालकों की भी है; स्त्रियों की बात तो जाने दो। इस देश के पुरुषों में भी शिक्षा का विस्तार अधिक नहीं है, इसी कारण गवर्नमेन्ट के Statistics (संख्यासूचक विवरण) में जब पाया जाता है कि भारतवर्ष में प्रति शत केवल दस बारह लोग ही शिक्षित हैं तो अनुमान होता है कि स्त्रियों में प्रति शत एक भी शिक्षिता न होगी। यदि ऐसा न होता तो देश की ऐसी दुर्दशा क्यों होती ? शिक्षा का विस्तार तथा ज्ञान का उन्मेष हुए बिना देश की उन्नति कैसे होगी ? तुममें से जो शिक्षित हैं और जिन पर देश की भावी आशा निर्भर है, उनमें भी इस विषय की कोई चेष्टा या उद्यम नहीं पाया जाता; किन्तु स्मरण रहे कि सर्वसाधारण में और स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार न होने से उन्नति का कोई उपाय नहीं है। इसलिए कुछ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी बनाने की मेरी इच्छा है। ब्रह्मचारी लोग समय पर संन्यास लेकर देश देश में, गाँव गाँव में जायेंगे और सर्वसाधारण में शिक्षा का प्रचार करने का प्रबन्ध करेंगे और ब्रह्मचारिणियाँ स्त्रियों में विद्या का प्रचार करेंगी; परन्तु यह सब काम अपने देश के ढंग पर होना चाहिए।

पुरुषों के लिए जैसा शिक्षा-केन्द्र बनाना होगा वैसा ही स्त्रियों के निमित्त भी करना होगा। शिक्षिता और सच्चरित्रा ब्रह्म-चारिणियाँ इस केन्द्र में कुमारियों को शिक्षा दिया करेंगी। पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प, गृहस्थी के सारे नियम इत्यादि वर्तमान विज्ञान की सहायता से समझाने होंगे तथा आदर्श चरित्रगठन करने की उपयुक्त नीतियों की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना पड़ेगा। जिससे वह भविष्य में अच्छी गृहिणी हों वही करना होगा। इन कन्याओं से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेगी। जिनकी माता शिक्षिता और नीतिपरायण हैं उनके ही घर में बड़े लोग जन्म लेते हैं। वर्तमान समय में तो स्त्रियों को काम करने का यन्त्र-सा बना रखा है। राम! राम!! तुम्हारी शिक्षा का क्या यही फल हुआ? स्त्रियों की वर्तमान दशा से उनका प्रथम उद्धार करना होगा। सर्वसाधारण को जगाना होगा; तभी तो भारत का कल्याण होगा।

अब गाड़ी को कौर्नवालीस स्ट्रीट के ब्राह्मसमाज मन्दिर से आगे बढ़ते देखकर स्वामीजी ने गाड़ीवाले से कहा, "चोरबागान के रास्ते को ले चलो।" गाड़ी जब उस रास्ते को मुड़ी तब स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "महाकाली पाठशाला की स्थापनकर्त्री तपस्विनी माताजी ने अपनी पाठशाला देखने के लिए निमन्त्रित किया है।" यह पाठशाला उस समय चोरबागान में राजेन्द्रनाथ मल्लिकजी के मकान के पूर्व की ओर किराये के मकान में थी। गाड़ी ठहरने पर दो चार भद्रपुरुषों ने स्वामीजी को प्रणाम किया और उन्हें कोठे पर लिवा ले गये। तपस्विनी माताजी ने भी खड़े होकर स्वामीजी का सत्कार किया। थोड़ी देर बाद ही तपस्विनी

माताजी स्वामीजी को पाठशाला की एक श्रेणी में ले गयीं। कुमारियों ने खड़े होकर स्वामीजी की अभ्यर्थना की और माताजी के आदेश से शिवजी के ध्यान की स्वर सहित आवृत्ति करनी आरम्भ की। फिर किस प्रणाली से पाठशाला में पूजन की शिक्षा दी जाती है, वह भी माताजी के आदेश से कुमारियाँ दिखलाने लगीं। स्वामीजी भी हर्षित नेत्रों से यह सब देखकर एक दूसरी श्रेणी की छात्राओं को देखने के लिए गये। वृद्धा माताजी ने अपने को स्वामीजी के साथ कुल श्रेणियों में घूमकर दिखाने के लिए असमर्थ जान पाठशाला के दो तीन शिक्षकों को बुलाकर स्वामीजी को सब श्रेणियों को अच्छी प्रकार दिखलाने के लिए कहा। सब श्रेणियों को देखकर स्वामीजी पुनः माताजी के पास लौट आये और उन्होंने एक छात्रा को बुलाकर रघुवंश के तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक की व्याख्या करने को कहा। उस कुमारी ने उसकी व्याख्या संस्कृत में ही करके स्वामीजी को सुनायी। स्वामीजी ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया और स्त्रीशिक्षा का प्रचार करने में इतना अध्यवसाय और यत्न का इतना साफल्य देखकर माताजी की बहुत प्रशंसा करने लगे। इस पर माताजी ने विनय से कहा, "मैं छात्राओं की सेवा उन्हें देवी भगवती समझकर कर रही हूँ। विद्यालय स्थापित करके यश लाभ करने का कोई विचार नहीं है।"

विद्यालय के सम्बन्ध में वार्तालाप करके स्वामीजी ने जब विदा लेनी चाही तब माताजी ने स्वामीजी को Visitors' Book (स्कूल के विषय में अपना मत लिखने के लिए निर्दिष्ट पुस्तक) में अपना मत प्रकट करने को कहा। स्वामीजी ने उस पुस्तक में अपना मत विशद रूप से लिख दिया। लिखित विषय की अन्तिम पंक्ति

शिष्य को अभी तक स्मरण है। वह यह थी—"The movement is in the right direction" अर्थात् कार्य उचित मार्ग पर हो रहा है।

इसके बाद माताजी को नमस्कार करके स्वामीजी फिर गाड़ी में सवार हुए और शिष्य से स्त्रीशिक्षा पर वार्तालाप करते हुए बागबाजार की ओर चले गये। वार्तालाप का कुछ विवरण निम्नलिखित है।

स्वामीजी—देखो, कहाँ इनकी जन्मभूमि ! सर्वस्व का त्याग किया है ! तथापि यहाँ लोगों के मंगल के लिए कैसा यत्न कर रही हैं ! स्त्री के अतिरिक्त और कौन छात्राओं को ऐसा निपुण कर सकता है ? सभी प्रबन्ध अच्छा पाया, परन्तु गृहस्थ पुरुषशिक्षकों का वहाँ होना मुझे उचित नहीं जान पड़ा। शिक्षिता विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही पाठशाला का कुल भार सौंपना चाहिए। इस देश की स्त्री-पाठशाला में पुरुषों का संसर्ग किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं।

शिष्य—किन्तु महाराज, इस देश में गार्गी, खना, लीलावती के समान गुणवती शिक्षिता स्त्रियाँ अब पायी कहाँ जाती हैं ?

स्वामीजी—क्या ऐसी स्त्रियाँ इस देश में नहीं हैं ? अरे यह देश वही है जहाँ सीता और सावित्री का जन्म हुआ था। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पाये जाते हैं, पृथ्वी पर और कहीं ऐसे नहीं पाये जाते। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ समय तक यही नहीं जान सकते थे कि वे स्त्रियाँ हैं। ठीक पुरुषों के समान प्रतीत होती थीं। ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफेसरी करती हैं ! एक मात्र भारतवर्ष ही में स्त्रियों में लज्जा, विनय इत्यादि देखकर नेत्रों को शान्ति होती

है। ऐसे योग्य आधार होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके! इनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया! उचित रीति से शिक्षा पाने पर ये आदर्श स्त्रियाँ बन सकती हैं।

शिष्य—महाराज, माताजी जिस प्रकार कुमारियों को शिक्षा दे रही हैं, क्या इससे ऐसा फल मिलेगा? वे कुमारियाँ बड़ी होने पर विवाह करेंगी और थोड़े ही समय में अन्य स्त्रियों के समान हो जायेंगी परन्तु मेरा विचार है कि यदि उनसे ब्रह्मचर्य का पालन कराया जाय तो वे समाज और देश की उन्नति के लिए जीवन उत्सर्ग करने और शास्त्रोक्त उच्च आदर्श लाभ करने में समर्थ होंगी।

स्वामीजी—धीरे धीरे सब हो जायगा। यहाँ अभी तक ऐसे शिक्षित पुरुषों ने जन्म नहीं लिया है, जो समाज-शासन से भयभीत न होकर अपनी कन्याओं को अविवाहित रख सकें। देखो, आजकल कन्याओं की अवस्था बारह-तेरह वर्ष होते ही समाज के भय से उनका विवाह कर देते हैं। अभी उस दिन की बात है कि सम्मति बिल (Consent Bill) के आने पर समाज के नेताओं ने लाखों मनुष्यों को एकत्रित कर चिल्लाना शुरू कर दिया कि हम यह कानून नहीं चाहते! अन्य देशों में इस प्रकार की सभा इकट्ठी करके विरोध प्रदर्शन करने की कौन कहे, ऐसे कानून के बनने की बात सुनकर ही लोग लज्जा से अपने घरों में छिप जाते हैं और सोचते हैं कि क्या अभी तक हमारे समाज में इस प्रकार का कलंक मौजूद है?

शिष्य—परन्तु महाराज, क्या ये सब संहिताकार लोग बिना कुछ विचार किये ही बालविवाह का अनुमोदन करते थे? निश्चय इसमें कुछ गूढ़ रहस्य है।

स्वामीजी—क्या रहस्य मालूम पड़ता है?

शिष्य—विचारिये कि छोटी अवस्था में कन्याओं का विवाह कर देने से वे ससुराल में आकर लड़कपन से ही कुलधर्म को सीख जायेंगी और गृहकार्य में निपुण बनेंगी। इसके अतिरिक्त पिता के गृह में वयस्क कन्या के स्वेच्छाचारिणी होने की सम्भावना है; बाल्यकाल में विवाह होने में स्वतन्त्र हो जाने का कोई भी भय नहीं रहता और लज्जा, नम्रता, धीरज तथा श्रमशीलता आदि नारीजाति के स्वाभाविक गुणों का विकास होता जाता है।

स्वामीजी—दूसरे पक्ष में यह कहा जा सकता है कि बाल-विवाह होने से बहुत स्त्रियाँ अल्पायु में ही सन्तान प्रसव करके मर जाती हैं। उनकी सन्तान अल्पजीवी होकर देश में भिक्षुकों की संख्या की वृद्धि करती हैं, क्योंकि माता पिता का शरीर सम्पूर्ण रूप से सबल न होने से सन्तान सबल और नीरोग कैसे उत्पन्न हो सकती है। पठनपाठन कराके कुमारियों की अधिक उम्र होने पर विवाह करने से उनकी जो सन्तान होगी, उसके द्वारा देश का कल्याण होगा। तुम्हारे यहाँ घर घर में जो इतनी विधवाएँ हैं, इसका कारण बालविवाह ही तो है। बालविवाह कम होने से विधवाओं की संख्या भी कम हो जायगी।

शिष्य—किन्तु महाराज, मेरा यह अनुमान है कि अधिक उम्र में विवाह होने से कुमारियाँ गृहकार्य में उतना ध्यान नहीं देतीं। सुना है कि कलकत्ते के अनेक गृहों में सास भोजन पकाती हैं और शिक्षित बहुएँ शृंगार करके बैठी रहती हैं। हमारे पूर्वबंग में ऐसा कभी नहीं होने पाता।

स्वामीजी—बुरा-भला सभी देशों में है। मेरा मत यह है कि सब देशों में समाज अपने आप बनता है। इसी कारण बालविवाह

उठा देना या विधवाविवाह आदि विषयों में सिर पटकना व्यर्थ है। हमारा यह कर्तव्य है कि समाज के स्त्री पुरुषों को शिक्षा दें। इससे फल यह होगा कि वे स्वयं भले-बुरे को समझेंगे और बुरे को स्वयं ही छोड़ देंगे। तब किसी को इन विषयों पर समाज का खण्डन या मण्डन करना न पड़ेगा।

शिष्य—आजकल स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है?

स्वामीजी—धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, रन्धन, सीना, शरीरपालन आदि सब विषयों का स्थूल मर्म सिखलाना उचित है। नाटक और उपन्यास तो उनके पास तक नहीं पहुँचने चाहिए। महाकाली पाठशाला अनेक विषयों में ठीक पथ पर चल रही है, किन्तु केवल पूजापद्धति सिखलाने से ही काम न बनेगा। सब विषयों में उनकी आँखें खोल देना उचित है। छात्राओं के सामने आदर्श नारीचरित्र सर्वदा रखकर त्यागरूप व्रत में उनका अनुराग उत्पन्न कराना चाहिए। सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई आदि के जीवनचरित्र कुमारियों को समझाकर उनको अपने जीवन इसी प्रकार से संगठित करने का उपदेश देना होगा।

गाड़ी अब बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के घर पर पहुँची। स्वामीजी गाड़ी से उतरकर ऊपर चले गये और दर्शनाभिलाषियों से, जो वहाँ उपस्थित थे, महाकाली पाठशाला का कुल वृत्तान्त कहने लगे।

आगे, नवनिर्मित "रामकृष्ण मिशन" के सदस्यों का क्या क्या कार्य कर्तव्य है, आदि विषयों की आलोचना करने के साथ ही साथ वे 'विद्यादान' तथा 'ज्ञानदान' का श्रेष्ठत्व अनेक प्रकार से

प्रतिपादन करने लगे। शिष्य को लक्ष्य करके बोले, 'Educate, Educate, (शिक्षा दो, शिक्षा दो)। "नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।" शिक्षादान के विरोधी मतावलम्बियों पर व्यंग करके बोले, 'सावधान, प्रह्लाद के समान न बन जाना।' शिष्य के इसका अर्थ पूछने पर स्वामीजी ने कहा, "क्या तूने सुना नहीं कि 'क' अक्षर को देखते ही प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे, फिर उनसे पठनपाठन क्या हो सकता था! यह निश्चित है कि प्रह्लाद की आँखों में आँसू भर आये थे प्रेम के और मूर्ख की आँखों में आँसू आते हैं डर के मारे। भक्तों में भी इस प्रकार के अनेक हैं।" इस बात को सुनकर सब लोग हँसने लगे। स्वामी योगानन्द यह सुनकर बोले "तुम्हारे मन में जब कोई बात उत्पन्न होती है, तो उसकी जब तक पूर्ति नहीं होगी तब तक तुमको शान्ति कहाँ! अब जो इच्छा है वही होकर रहेगा।"

परिच्छेद ८

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—शिष्य का स्वयं भोजन पकाकर स्वामीजी को भोजन कराना—ध्यान के स्वरूप और अवलम्बन सम्बन्धी चर्चा—बाहरी अवलम्बन के आश्रय पर भी मन को एकाग्र करना सम्भव—एकाग्रता होने पर भी पूर्व-संस्कार से साधकों के मन में वासनाओं का उदय होना—मन की एकाग्रता से साधक को ब्रह्माभास तथा भाँति भाँति की विभूतियाँ प्राप्त करने का उपाय लाभ हो जाना—इस अवस्था में किसी प्रकार की वासना से परिचालित होने पर ब्रह्मज्ञान का लाभ न होना।

कुछ दिनों से स्वामीजी बागबाजार मे स्व० बलराम बसुजी के भवन में ठहरे हैं। क्या प्रातः, क्या मध्याह्न, क्या सायंकाल उनको विश्राम करने को तनिक भी अवसर नहीं मिलता; क्योंकि स्वामीजी कहीं भी क्यों न रहें, अनेक उत्साही युवक (कालेज के छात्र) उनके दर्शनों को आ ही जाते हैं। स्वामीजी सादर सब को धर्म या दर्शन के कठिन तत्त्वों को सुगमता से समझाते हैं। स्वामीजी की प्रतिभा से मानो वे परास्त होकर निर्वाक् हुए बैठे रहते हैं।

आज सूर्यग्रहण होगा। ग्रहण सर्वग्रासी है। ग्रहण देखने के निमित्त ज्योतिषीगण भिन्न भिन्न स्थानों को गये हैं। धर्मपिपासु नरनारी दूर दूर से गंगास्नान करने आये हैं और बड़ी उत्सुकता से ग्रहण पड़ने के समय की प्रतीक्षा कर रहे हैं। परन्तु स्वामीजी को ग्रहण के सम्बन्ध में कोई विशेष उत्साह नहीं है। स्वामीजी का आदेश है कि शिष्य अपने हाथ से भोजन पकाकर स्वामीजी

को खिलाये। शाक तरकारी और रसोई पकाने के सब उपयोगी पदार्थ इकट्ठा कर प्रातःकाल आठ बजे शिष्य बलराम बसुजी के घर पर पहुँचा। उसको देखकर स्वामीजी ने कहा, "तुम्हारे देश में जिस प्रकार भोजन* पकाया जाता है, उसी प्रकार बनाओ और ग्रहण पड़ने से पूर्व ही भोजन हो जाना चाहिए।"

बलराम बाबू के परिवार में से कोई भी कलकत्ते में नहीं था। इस कारण सारा घर खाली था। शिष्य ने भीतर के रसोई घर में जाकर रसोई पकाना आरम्भ किया। श्रीरामकृष्ण की प्रेमी स्त्री भक्त योगीन माता ने पास ही उपस्थित रहकर रसोई के निमित्त सब चीजों का आयोजन किया और कभी कभी पकाने का ढंग बतलाकर उसकी सहायता करने लगी। स्वामीजी भी बीच बीच में वहाँ आकर रसोई देखकर शिष्य को उत्साहित करने लगे और कभी "तरकारी का 'झोल' (शोरवा) तुम्हारे पूर्वबंग के ढंग का पके" कहकर हँसी करने लगे।

जब भात, मूंग की दाल, झोल, खटाई, सुक्तुनी आदि सब पदार्थ पक चुके तब स्वामीजी स्नान कर आ पहुँचे और स्वयं ही पत्तल बिछाकर बैठ गये। "अभी सब रसोई नहीं बनी है," कहने पर भी कुछ नहीं सुना, बड़े हठी बच्चे के समान बोले, "बड़ी भूख

* बंगवासियों का प्रधान आहार भात है, परन्तु इसके साथ दाल, झोल (शोरवा), नाना स्वादिष्ट तरकारियाँ (जैसे, 'चच्चडी' 'डलना' 'सुक्तुनी' 'घन्टो,' 'भाजा' तथा 'टक' इत्यादि) न पकाने से उनकी भोजनपरिपाटी नहीं होती, वे दो चार हरी तरकारियों को एक साथ मिलाकर भिन्न भिन्न मसाले तथा उपकरण के संयोजन से कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर रसों की तरकारी पकाने में बड़े निपुण होते हैं। पूर्व बंगवासियों की एक विशेषता यह है कि वे तरकारियों में मसाला, विशेष करके लाल मिर्च बहुत डालते हैं।

लगी है, अब ठहरा नहीं जाता, भूख के मारे आँतें जल रही हैं।" लाचार होकर शिष्य ने सुक्तुनी और भात परोस दिया। स्वामीजी ने भी तुरन्त भोजन करना आरम्भ कर दिया। तत्पश्चात् शिष्य ने कटोरी में अन्यान्य शाकों को परोसकर सामने रख दिया। फिर योगानन्द तथा प्रेमानन्द प्रमुख अन्य सब संन्यासियों को अन्न तथा शाकादि परोसने लगे। शिष्य रसोई पकाने में निपुण नहीं था, किन्तु आज स्वामीजी ने उसकी रसोई की बहुत बहुत प्रशंसा की। कलकत्तेवाले "पूर्वबंग की सुक्तुनी" के नाम से ही बड़ी हँसी करते हैं, किन्तु स्वामीजी यह भोजन कर बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले, "ऐसी अच्छी रसोई मैंने कभी नहीं पायी। यह 'झोल सब्जी' जैसी चटपटी बनी है, ऐसी और कोई तरकारी नहीं बनी।" खटाई चखकर बोले, "यह बिलकुल बर्दवानवालों के ढंग पर बनी है।" अन्त में सन्देश (मिठाई) तथा दही से स्वामीजी ने भोजन समाप्त किया और आचमन करके घर के भीतर खटिया पर जा बैठे। शिष्य स्वामीजी के सामने-वाले दालान में प्रसाद पाने को बैठ गया। स्वामीजी ने बातचीत करते करते उससे कहा, "जो अच्छी रसोई नहीं पका सकता वह साधु भी नहीं बन सकता। यदि मन शुद्ध न हो तो किसी से अच्छी स्वादिष्ट रसोई नहीं पकती।"

थोड़ी देर बाद चारों ओर शंख-ध्वनि होने लगी तथा घण्टा बजने लगा और स्त्रीकण्ठ की 'उलु' ध्वनि सुनाई दी। स्वामीजी बोले, "अरे, ग्रहण पड़ने लगा, मैं सो जाऊँ, तू चरण सेवा कर।" यह कहकर वे कुछ आलस्य और तन्द्रा का अनुभव करने लगे। शिष्य भी उनकी पदसेवा करते करते विचार करने लगा, "ऐसे पुण्य समय में गुरुपदों की सेवा करना ही मेरा जप, तपस्या और

गंगास्नान है।" ऐसा विचार कर शान्त मन से स्वामीजी की सेवा करने लगा। ग्रहण के समय सूर्य के छिप जाने से चारों दिशाओं में सायंकाल के समान अन्धेरा छा गया।

जब ग्रहण मुक्त होने में पन्द्रह-बीस मिनट ही थे, तब स्वामीजी सोकर उठे और मुँह हाथ धोकर हँसकर शिष्य से बोले, "लोग कहते हैं कि ग्रहण के समय यदि कुछ किया जाये, तो उससे करोड़ गुना अधिक फल प्राप्त होता है। इसलिए मैंने यह सोचा था कि महामाया ने तो इस शरीर को अच्छी नींद दी ही नहीं; यदि इस समय कुछ देर सो जाऊँ तो आगे अच्छी नींद मिलेगी, परन्तु ऐसा नहीं हो सका। अधिक से अधिक कोई पन्द्रह मिनट ही सोया हूँगा।"

इसके बाद स्वामीजी के पास सब के आ बैठने पर, स्वामीजी ने शिष्य को उपनिषद् के सम्बन्ध में कुछ बोलने का आदेश किया। इससे पहिले शिष्य ने स्वामीजी के सामने कभी वक्तृता नहीं दी थी। उसका हृदय काँपने लगा, परन्तु स्वामीजी छोड़ने वाले कब थे। लाचारी से शिष्य खड़ा होकर "परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुः" मन्त्र पर व्याख्यान देने लगा। इसके आगे गुरुभक्ति और त्याग की महिमा वर्णन की और ब्रह्मज्ञान ही परम पुरुषार्थ है, यह सिद्धान्त बतलाकर बैठ गया। स्वामीजी ने शिष्य का उत्साह बढ़ाने को वार बार करतलध्वनि कर कहा, "बहुत अच्छा! बहुत अच्छा!!"

तत्पश्चात् स्वामीजी ने शुद्धानन्द, प्रकाशानन्द आदि स्वामियों को कुछ बोलने का आदेश दिया। स्वामी शुद्धानन्द ने ओजस्विनी भाषा में ध्यान सम्बन्धी एक छोटा-सा व्याख्यान दिया। उसके बाद स्वामी प्रकाशानन्द आदि के कुछ व्याख्यान होने पर स्वामीजी वहाँ से बाहर बैठक में आये। तब सन्ध्या होने में कोई घन्टा भर

था। वहाँ सब के पहुँचने पर स्वामीजी ने कहा, "जिसको जो कुछ पूछना हो, पूछो।"

शुद्धानन्द स्वामी ने पूछा, "महाराज, ध्यान का स्वरूप क्या है?"

स्वामीजी—किसी विषय पर मन को एकाग्र करने का ही नाम ध्यान है। किसी एक विषय पर भी मन की एकाग्रता होने से उसकी एकाग्रता जिसमें चाहो उसमें कर सकते हो।

शिष्य—शास्त्र में विषय और निर्विषय के भेदानुसार दो प्रकार के ध्यान पाये जाते हैं। इसका क्या अर्थ है और उनमें से कौन श्रेष्ठ है?

स्वामीजी—प्रथम किसी एक विषय का आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। किसी समय में एक छोटे-से काले बिन्दु पर मन को एकाग्र किया करता था। परन्तु कुछ दिन के अभ्यास के बाद वह बिन्दु मुझे दीखना बन्द हो जाता था। वह मेरे सामने है या नहीं यह भी विचार नहीं कर सकता था। वायुहीन समुद्र के समान मन का सम्पूर्ण निरोध हो जाता था। अर्थात् वृत्तिरूपी कोई लहर नहीं रहती थी। ऐसी अवस्था में मुझे अतीन्द्रिय सत्य की परछाईं कुछ कुछ दिखायी देती थी। इसलिए मेरा विचार है कि किसी सामान्य बाहरी विषय का भी आश्रय लेकर ध्यान करने का अभ्यास करने से मन की एकाग्रता होती है। जिसमें जिसका मन लगता है, उसीका आश्रय कर ध्यान का अभ्यास करने से मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है। इसीलिए हमारे देश में इतने देव-देवी-मूर्तियों के पूजने की व्यवस्था है। देव-देवीपूजा से ही शिल्प की उन्नति हुई है। परन्तु इस बात को अभी छोड़ दो। अब बात यह है कि ध्यान का बाहरी अवलम्बन सब का एक नहीं हो सकता। जो जिस विषय के आश्रय से ध्यान-सिद्ध हो गया है, वह उस

अवलम्बन का ही वर्णन और प्रचार कर गया है। तत्पश्चात् क्रमश: वे मन के स्थिर करने के लिए हैं, इस बात के भूलने पर लोगों ने इस बाहरी अवलम्बन को ही श्रेष्ठ समझ लिया है। जो उपाय था, उसको लेकर लोग मग्न हो रहे हैं और जो उद्देश्य था, उस पर लक्ष्य कम हो गया है। मन को वृत्तिहीन करना ही उद्देश्य है; किन्तु किसी विषय में तन्मय न होने से यह कभी नहीं हो सकता।

शिष्य—मनोवृत्ति के विषयाकार होने से उसमें फिर ब्रह्म की धारणा कैसे हो सकती है ?

स्वामीजी—वृत्ति पहले विषयाकार होती है, यह ठीक है; किन्तु तत्पश्चात् उस विषय का कोई ज्ञान नहीं रहता, तब शुद्ध 'अस्ति' मात्र का ही बोध रहता है।

शिष्य—महाराज, मन की एकाग्रता होने पर भी कामनाओं और वासनाओं का उदय क्यों होता है ?

स्वामीजी—यह सब पूर्व सस्कार से होता है! बुद्धदेव जब समाधि अवस्था को प्राप्त करने को ही थे, उस समय भी 'मार' उनके सामने आया। 'मार' स्वयं कुछ भी नहीं था, वरन् मन के पूर्वसस्कार का ही छायारूप से बाहर प्रकाश हुआ था।

शिष्य—सिद्ध होने के पहले नाना विभीषिका देखने की बातें जो सुनने में आती हैं, क्या वे सब मन की ही कल्पनाएँ हैं ?

स्वामीजी—और नहीं तो क्या ? यह निश्चित है कि उस अवस्था में साधक विचार नहीं कर सकता कि यह सब उसके मन का ही बाहरी प्रकाश है; परन्तु वास्तव में बाहर कुछ भी नहीं है। यह जगत् जो देखते हो यह भी नहीं है; सभी मन की कल्पनाएँ हैं। मन के वृत्तिशून्य होने पर उसमें ब्रह्माभास होता

है। 'यं यं लोकं मनसा संविभाति' उन उन लोकों के दर्शन होते हैं। जो संकल्प किया जाता है वही सिद्ध होता है। ऐसी सत्य और संकल्प अवस्था लाभ करके भी जो जागरूक रह सकता है किसी भी प्रकार की वासनाओं का दास नहीं होता, वही सिद्ध होता है; परन्तु जो ऐसी अवस्था लाभ करने पर विचलित हो जाता है, वह नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करके परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

इन बातों को कहते कहते स्वामीजी बारम्बार 'शिव' नाम का उच्चारण करने लगे। अन्त में फिर बोले, "बिना त्याग के इस गम्भीर जीवन-समस्या का गूढ़ अर्थ निकालना और किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं है। 'त्याग'––'त्याग', यही तुम्हारे जीवन का मूलमन्त्र होना चाहिए। 'सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।' "

परिच्छेद ९

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ इसवी

विषय—श्रीरामकृष्ण के भक्तों को बुलाकर स्वामीजी के द्वारा कलकत्ते में रामकृष्ण मिशन समिति का संगठन—श्रीरामकृष्ण के उदार भावों के प्रचार के विषय में सब की सम्मति पूछना—श्रीरामकृष्ण को स्वामीजी किस भाव से देखते थे—श्रीरामकृष्ण स्वामीजी को किस दृष्टि से देखते थे, तत्सम्बन्ध में श्रीयोगानन्द स्वामी की उक्ति—अपने ईश्वरावतारत्व के विषय में श्रीरामकृष्ण की उक्ति—अवतारत्व में विश्वास करने की कठिनाई; देखने पर भी नहीं होता, इसका होना उनकी दया पर ही निर्भर है—कृपा का स्वरूप और कौन लोग उस कृपा को प्राप्त करते हैं—स्वामीजी और गिरीश बाबू का वार्तालाप।

स्वामीजी का अवस्थान कुछ दिनों से बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के भवन में है। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के सब गृहस्थ भक्तों को यहाँ एकत्रित होने के लिए समाचार भेजा था। इसीसे दिन के तीन बजे श्रीरामकृष्ण के भक्तजन एकत्रित हुए हैं। स्वामी योगानन्द भी वहाँ उपस्थित हैं। स्वामीजी ने एक समिति संगठित करने के उद्देश्य से सब को निमन्त्रित किया है। सब महानुभावों के बैठ जाने पर स्वामीजी ने कहा, "अनेक देशों में भ्रमण करने पर मैंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि बिना संघ के कोई भी बड़ा कार्य सिद्ध नहीं होता। परन्तु हमारे देश में इसका निर्माण यदि शुरू से ही सर्वसाधारण के मतानुसार (वोट द्वारा) किया जाय तो मुझे ऐसा अनुमान नहीं होता कि

वह अधिक कार्य करेगा। पाश्चात्य देशों के लिए यह नियम अच्छा है, क्योंकि वहाँ सब नरनारी अधिक शिक्षित हैं और हमारे समान द्वेषपरायण नहीं हैं। वे गुण का सम्मान करना जानते हैं। मैं स्वयं एक तुच्छ मनुष्य हूँ, परन्तु मेरा भी उन्होंने कितना सत्कार किया। इस देश में शिक्षाविस्तार के साथ जब साधारण लोग और भी सहृदय बनेंगे और अपने हृदय को छोटे छोटे मतों की संकीर्ण सीमा से हटाकर उदारता से विचार करेंगे, तब साधारण लोगों के मतानुसार काम चल सकता है। इन सब बातों का विचार करके मैं देखता हूँ कि हमारे इस संघ के लिए एक प्रधान संचालक (Dictator) होना आवश्यक है, सब लोग उसीके आदेश को मानें। कुछ समय पश्चात् सब के मतानुसार ही कार्य करना पड़ेगा।

यह संघ उन श्रीरामकृष्ण के नाम पर स्थापित होगा जिनके नाम पर भरोसा कर हम संन्यासी हुए और आप सब महानुभाव जिनको अपना जीवन-आदर्श मान संसार-आश्रमरूप कार्यक्षेत्र में विराजित हैं और जिनके देहावसान से बीस ही वर्ष में प्राच्य तथा पाश्चात्य जगत् मे उनके पवित्र नाम और अद्भुत जीवनी का प्रसार ऐसा आश्चर्यजनक हुआ है। हम सब प्रभु के सेवक हैं, आप लोग इस कार्य में सहायता दीजिये।

श्रीयुत गिरीशचन्द्र तथा अन्यान्य गृहस्थों के इस प्रस्ताव पर सम्मत होने पर रामकृष्ण संघ की भावी कार्यप्रणाली की आलोचना होने लगी। संघ का नाम "रामकृष्ण संघ" अथवा "रामकृष्ण मिशन" रखा गया। उसके उद्देश्यादि नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

उद्देश्य—मनुष्यों के हित के निमित्त श्रीरामकृष्ण ने जिन तत्वों का विवेचन किया है और उनके जीवन में कार्य द्वारा जिनकी पूर्ति हुई है, उन

सब का प्रचार तथा मनुष्यों की दैहिक, मानसिक और पारमार्थिक उन्नति के निमित्त वे सब तत्त्व जिस प्रकार से प्रयुक्त हो सकें, उसमें सहायता करना ही इस संघ (मिशन) का उद्देश्य है।

व्रत—जगत् के सब धर्ममतों को एक अक्षय सनातन धर्म का रूपान्तर मात्र जानकर, समस्त धर्मावलम्बियों में मित्रता स्थापित करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने जिस कार्य की अवतारणा की थी, उसीका परिचालन करना इस संघ का व्रत है।

कार्यप्रणाली—मनुष्यों की सांसारिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए विद्यादान करने के लिए उपयुक्त लोगों को शिक्षित करना। शिल्प-कार्य करके अथवा परिश्रम से जो अपनी जीविका चलाते हैं, उनका उत्साह बढ़ाना और वेदान्त तथा अन्यान्य धर्मभावों का, जैसी कि उनकी रामकृष्ण-जीवन में व्याख्या हुई थी, मनुष्य-समाज में प्रचार करना।

भारतवर्षीय कार्य—भारतवर्ष के नगर नगर में आचार्य-व्रत ग्रहण करने के अभिलाषी गृहस्थ या संन्यासियों की शिक्षा के निमित्त आश्रम स्थापित करना और जिनसे वे दूर दूर जाकर साधारण जनों को शिक्षा दे सकें उन उपायों का अवलम्बन करना।

विदेशीय कार्यविभाग—भारतवर्ष से बाहर अन्यान्य विदेशों में व्रतधारियों को भेजना और उन देशों में स्थापित सब आश्रमों का भारतवर्ष के आश्रमों से मित्रभाव और सहानुभूति बढ़ाना तथा नये नये आश्रमों की स्थापना करना।

स्वामीजी स्वयं ही उस समिति के साधारण सभापति बने। स्वामी ब्रह्मानन्दजी कलकत्ता केन्द्र के सभापति और स्वामी योगानन्दजी सहकारी बने। एटर्नी बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र इसके सेक्रेटरी, डाक्टर शशिभूषण घोष और शरच्चन्द्र सरकार अण्डर-सेक्रेटरी और शिष्य शास्त्रपाठक निर्वाचित हुए। स्व० बलराम बसुजी के मकान पर प्रत्येक रविवार को चार बजे के उपरान्त समिति का अधिवेशन होगा, यह नियम भी निश्चित किया गया।

इस सभा के पश्चात् तीन वर्ष तक "रामकृष्ण मिशन" समिति का अधिवेशन प्रति रविवार को बलराम बसुजी के मकान पर हुआ। स्वामीजी जब तक फिर विलायत नहीं गये, तब तक सुविधानुसार समिति के अधिवेशन में उपस्थित होकर कभी उपदेश आदि देकर या कभी अपने सुन्दर कण्ठ से गान सुनाकर सब को मोहित करते थे।

सभा की समाप्ति पर सदस्य लोगों के चले जाने के पश्चात् योगानन्द स्वामी को लक्ष्य करके स्वामीजी कहने लगे, "इस प्रकार से कार्य तो आरम्भ किया गया, अब देखना चाहिए कि श्रीगुरुदेव की इच्छा से कहाँ तक इसका निर्वाह होता है।"

स्वामी योगानन्द—तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। श्रीरामकृष्ण का उपदेश क्या ऐसा ही था?

स्वामीजी—तुमने कैसे जाना कि यह सब श्रीरामकृष्ण के भावानुसार नहीं है? तुम क्या अनन्त भावमय गुरुदेव को अपनी सीमा में आबद्ध करना चाहते हो? मैं इस सीमा को तोड़कर उनके भाव जगत् भर में फैलाऊँगा। श्रीरामकृष्ण ने उनके पूजा-पाठ का प्रचार करने का उपदेश मुझे कभी नहीं दिया। वे साधन-भजन, ध्यान-धारणा तथा और और ऊँचे धर्मभावों के सम्बन्ध में जो सब उपदेश दे गये हैं, उनको पहले अपने में अनुभव करके फिर सर्वसाधारण को उन्हें सिखलाना होगा। मत अनन्त हैं; पथ भी अनन्त हैं। सम्प्रदायों से भरे हुए जगत् में और एक नवीन सम्प्रदाय के पैदा कर देने के लिए मेरा जन्म नहीं हुआ। प्रभु के चरणों में आश्रय पाकर हम कृतार्थ हो गये हैं। त्रिजगत् के लोगों को उनके सब भावों को देने के निमित्त ही हमारा जन्म हुआ है।

इन बातों का प्रतिवाद न करने पर स्वामी योगानन्द से स्वामीजी फिर कहने लगे, "प्रभु की कृपा का परिचय इस जीवन में बहुत पाया। वे ही तो पीछे खड़े होकर इन सब कार्यों को करा रहे हैं। जब भूख से कातर होकर वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ था, जब कौपीन बाँधने को वस्त्र तक नहीं था, जब कौड़ीहीन होकर पृथ्वी का भ्रमण करने को कृतसंकल्प हुआ था, तब भी श्रीगुरुदेव की कृपा से सब बातों में मैंने सहायता पायी। फिर जब इसी विवेकानन्द के दर्शन करने के निमित्त शिकागो के रास्तों में लठ चले थे, जिस सम्मान के शतांश का एकांश भी प्राप्त करने पर साधारण मनुष्य उन्मत्त हो जाते हैं, श्रीगुरुदेव की कृपा से उस सम्मान को भी सहज में पचा गया। प्रभु की इच्छा से सर्वत्र विजय है। अब इस देश में कुछ कार्य कर जाऊँगा। तुम सन्देह छोड़कर मेरे कार्य में सहायता करो, देखोगे कि उनकी इच्छा से सब पूर्ण हो जायगा।"

स्वामी योगानन्द—तुम जैसा आदेश करोगे, हम वैसा ही करेंगे। हम तो सदा से तुम्हारे आज्ञाकारी हैं। मैं तो कभी कभी स्पष्ट ही देखता हूँ कि श्रीगुरुदेव स्वयं तुमसे यह सब कार्य करा रहे हैं। फिर बीच बीच में मन में न जाने क्यों ऐसा सन्देह आ जाता है। मैंने श्रीगुरुदेव के कार्य करने की रीति कुछ और ही प्रकार की देखी थी, इसीलिए सन्देह होता है कि कहीं हम उनकी शिक्षा छोड़कर दूसरे पथ पर तो नहीं चल रहे हैं? इसी कारण तुमसे ऐसा कहता हूँ और सावधान कर देता हूँ।

स्वामीजी—इसके उत्तर में मैं कहता हूँ कि साधारण भक्तों ने श्रीगुरुदेव को जहाँ तक समझा है, वास्तव में हमारे प्रभु उतने ही नहीं हैं; वरन् वे अनन्त भावमय हैं। ब्रह्मज्ञान की मर्यादा हो भी,

किन्तु प्रभु के अगम्य भावों की कुछ मर्यादा नहीं है। उनके कृपा-कटाक्ष से एक क्यों, लाखों विवेकानन्द अभी उत्पन्न हो सकते हैं। पर ऐसा न करके वे अपनी ही इच्छा से मेरे द्वारा अर्थात् मुझे यन्त्रवत् बनाकर, यहाँ सब कार्य करा रहे हैं। इसमें मैं क्या करूँ?

यह कहकर स्वामीजी अन्य कार्य के निमित्त कहीं चले गये। स्वामी योगानन्द शिष्य से कहने लगे, "वाह! नरेन्द्र का कैसा विश्वास है! इस पर भी क्या तूने ध्यान दिया है? उन्होंने कहा कि श्रीगुरुदेव के कृपाकटाक्ष से लाखों विवेकानन्द बन सकते हैं! धन्य है उनकी गुरुभक्ति को! यदि ऐसी भक्ति का शतांश भी हम प्राप्त कर सकते तो कृतार्थ हो जाते।"

शिष्य—महाराज, श्रीरामकृष्ण स्वामीजी के विषय में क्या कहा करते थे?

योगानन्द—वे कहा करते थे, 'इस युग में ऐसा आधार जगत् में और कभी नहीं आया।' कभी कहते थे, 'नरेन्द्र पुरुष है और मैं प्रकृति हूँ, नरेन्द्र मेरी ससुराल है।' कभी कहा करते थे, 'अखण्ड के राज्य के हैं,' कभी कहते थे, 'अखण्ड श्रेणी के हैं—वहाँ देव-देवी सब अपना प्रकाश ब्रह्म से स्वतन्त्र रखने को समर्थ न होकर, उनमें लीन हो गये हैं, वहाँ केवल सात ऋषियों को अपना प्रकाश स्वतन्त्र रखकर ध्यान में निमग्न रहते देखा, नरेन्द्र उनमें से एक का अंशावतार है।' कभी कहा करते थे, 'जगत्-पालक नारायण ने नर और नारायण नामक जिन दो ऋषियों की मूर्ति धारण करके जगत् के कल्याण के लिए तपस्या की थी, नरेन्द्र उसी नर ऋषि का अवतार है,' कभी कहते थे, 'शुकदेवजी के समान इसको भी माया ने स्पर्श नहीं किया है।'

शिष्य—क्या वे सब बातें सत्य हैं? या श्रीरामकृष्ण भावा-

वस्था में समय समय पर एक एक प्रकार का उनको कहा करते थे।

योगानन्द—उनकी सब बातें सत्य हैं। उनके श्रीमुख से भूल से भी मिथ्या बात नहीं निकली।

शिष्य—तब फिर क्यों कभी कभी ऐसे भिन्न प्रकार से कहा करते थे।

योगानन्द—तेरी समझ में नहीं आया। नरेन्द्र को सब का समष्टि प्रकाश कहा करते थे। क्या तुझे नहीं दीख पड़ता कि नरेन्द्र में ऋषि का वेद-ज्ञान, शंकर का त्याग, बुद्ध का हृदय, शुकदेव का मायारहित भाव और ब्रह्मज्ञान का पूर्ण विकास एक साथ वर्तमान हैं? श्रीरामकृष्ण इसीसे बीच बीच में नरेन्द्र के विषय में ऐसी नाना प्रकार की बातें कहा करते थे। जो वे कहते थे वह सब सत्य है।

शिष्य सुनकर निर्वाक् हो गया। इतने में स्वामीजी लौटे और शिष्य से पूछा, "क्या तेरे देश में सब लोग श्रीरामकृष्ण के नाम से विशेष रूप से परिचित हैं?"

शिष्य—मेरे देश से तो केवल नाग महाशय ही श्रीरामकृष्ण के पास आये थे। उनसे समाचार पाने पर अनेक लोग श्रीरामकृष्ण के विषय में जानने को उत्सुक हुए हैं; परन्तु वहाँ के नागरिक श्रीरामकृष्ण को ईश्वर के अवतार अभी तक नहीं जान सके, और कोई कोई तो यह बात सुनकर भी इस पर विश्वास नहीं करते।

स्वामीजी—इस बात पर विश्वास करना क्या तूने ऐसा सुगम समझ रखा है? हमने उनको सब प्रकार से जाँचा, उनके मुँह से यह बात बारम्बार सुनी, चौबीस घण्टे उनके साथ रहे तिस पर भी बीच बीच में हमको सन्देह होता है, तो फिर औरों को क्या कहें?

शिष्य—महाराज, श्रीरामकृष्ण पूर्णब्रह्म भगवान थे, क्या यह बात उन्होंने कभी अपने मुंह से कही थी ?

स्वामीजी—कितने ही बार कही थी। हम सब लोगों से कही थी। जब वे काशीपुर के बाग में थे और उनका शरीरत्याग होने को ही था, तब मैंने उनकी शय्या के निकट बैठकर एक दिन मन में सोचा कि यदि तुम अब कह सको "मैं भगवान हूँ" तब मेरा विश्वास होगा कि तुम सत्य ही भगवान हो। तब चोला के छूटने के दो दिन बाकी थे। उक्त बात को सोचते ही श्रीगुरुदेव ने एकाएक मेरी ओर देखकर कहा, "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वे ही अब इस शरीर में रामकृष्ण हैं,—तेरे वेदान्त के मत से नहीं।" मैं तो सुनकर भौचक्का हो गया। प्रभु के श्रीमुख से बारम्बार सुनने पर भी हमें ही अभी तक पूर्ण विश्वास नहीं हुआ—सन्देह और निराशा में मन कभी कभी आन्दोलित हो जाता है—तो फिर औरों की बात क्या? हमारे ही समान देहधारी एक मनुष्य को ईश्वर कहकर निर्देश करना और उन पर विश्वास रखना बड़ा ही कठिन है। सिद्धपुरुष या ब्रह्मज्ञ तक अनुमान करना सम्भव है। उनको चाहे जो कुछ कहो, चाहे जो कुछ समझो, महापुरुष मानो या ब्रह्मज्ञ, इसमें क्या धरा है। परन्तु श्रीगुरुदेव जैसे पुरुषोत्तम ने इससे पहले जगत् में और कभी जन्म नहीं लिया। संसार के घोर अन्धकार में अब यही महापुरुष ज्योतिःस्तम्भस्वरूप हैं। इनकी ही ज्योति से मनुष्य संसारसमुद्र के पार चले जायेंगे।

शिष्य—मेरा अनुमान है कि जब तक कुछ देख-सुन न लें, तब तक यथार्थ विश्वास नहीं होता। सुना है कि मथुर बाबू ने श्रीरामकृष्ण के विषय में कितनी ही अद्‌भुत घटनाएँ प्रत्यक्ष की

थीं और उन्हीं से उनका विश्वास उन पर जमा था।

स्वामीजी—जिसे विश्वास नहीं है, उसे देखने पर भी कुछ नहीं होता। देखने पर सोचता है कि यह कहीं अपने मस्तिष्क का विकार या स्वप्नादि तो नहीं है? दुर्योधन ने भी विश्वरूप देखा था, अर्जुन ने भी विश्वरूप देखा था। अर्जुन को विश्वास हुआ किन्तु दुर्योधन ने उसे जादू समझा! यदि वे ही न समझायें तो और किसी प्रकार से समझने का उपाय नहीं है। किसी किसी को बिना कुछ देखे सुने ही पूर्ण विश्वास हो जाता है और किसी को बारह वर्ष तक प्रत्यक्ष सामने रहकर नाना प्रकार की विभूतियाँ देखकर भी सन्देह में पड़ा रहना होता है। सारांश यह है कि उनकी कृपा चाहिए, परन्तु लगे रहने से ही उनकी कृपा होगी।

शिष्य—महाराज, कृपा का क्या कोई नियम है?

स्वामीजी—है भी और नहीं भी।

शिष्य—यह कैसे?

स्वामीजी—जो तन-मन-वचन से सर्वदा पवित्र रहते हैं, जिनका अनुराग प्रबल है, जो सत्-असत् का विचार करने वाले हैं और ध्यान तथा धारणा में संलग्न रहते हैं उन्हीं पर भगवान की कृपा होती है। परन्तु भगवान प्रकृति के सब नियमों (Natural laws) के परे हैं अर्थात् किसी नियम के वश में नहीं हैं। श्रीगुरुदेव जैसा कहा करते थे, 'उनका स्वभाव बच्चों के समान है।' इस कारण यह देखने में आता है कि किसी किसी ने करोड़ों जन्मों से उन्हें पुकारा, किन्तु उनसे कोई उत्तर न पा सका। फिर जिसको हम पापी, तापी और नास्तिक समझते हैं, उसमें एकाएक चैतन्य का प्रकाश हुआ। उसके न माँगने पर भी भगवान ने उस पर कृपा कर दी। तुम यह कह सकते हो कि उसके पूर्वजन्म का संस्कार

था, परन्तु इस रहस्य को समझना बड़ा कठिन है। श्रीगुरुदेव ने ऐसा भी कहा है कि उन्हें ही सम्पूर्ण सहारा समझो। जैसे पत्तल तूफान के सामने रहती है उसी प्रकार तुम भी रहो। उन्होंने फिर कहा कि कृपारूपी हवा तो चल ही रही है, तुम अपना पाल उठा दो।

शिष्य—महाराज, यह तो बड़ी कठिन बात है। कोई युक्ति ही यहाँ नहीं ठहर सकती।

स्वामीजी—तर्क विचार की दौड़ तो माया से अधिकृत इसी जगत् में है, देश-काल-निमित्त की सीमा के अन्तर्गत है; परन्तु वे देश-कालातीत हैं। उनके नियम (laws) भी हैं, और वे नियम के बाहर भी हैं। प्रकृति के जो कुछ नियम हैं, उन्होंने ही उनको बनाया या वे ही स्वयं ये नियम बने और इन सब के परे भी रहे। जिन्होंने उनकी कृपा को प्राप्त किया, वे उसी क्षण सब नियमों के परे (beyond law) पहुँच जाते हैं। इसीलिए कृपा का कोई विशेष नियम (condition) नहीं है। कृपा को प्राप्त करना उनकी इच्छा पर है। यह कुल जगत्-सृजन ही उनकी एक लीला है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।' जो इस जगत् को अपनी इच्छानुसार तोड़ता और बनाता है, क्या वह अपनी कृपा से किसी महापापी को मुक्ति नहीं दे सकता? तब भी किसी किसी से कुछ साधन-भजन करा लेते हैं और किसी से नहीं भी कराते। यह भी उन्हीं की लीला है।

शिष्य—महाराज, यह बात ठीक समझ में नहीं आयी।

स्वामीजी—और अधिक समझने से क्या फल पाओगे? जहाँ तक सम्भव हो उनसे ही मन लगाये रखो। इसीसे इस जगत् की माया स्वयं छूट जायगी; परन्तु लगा रहना पड़ेगा। कामिनी और

कांचन से मन को पृथक् रखना पड़ेगा। सर्वदा सत् और असत् का विचार करना होगा। मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसे विदेह भाव से अवस्थान करना पड़ेगा। मैं सर्वव्यापी आत्मा ही हूँ इसी की अनुभूति होनी चाहिए। इसी प्रकार लगे रहने का ही नाम पुरुषकार है। इस पुरुषकार की सहायता से ही उन पर निर्भरता आती है, जिसको परम पुरुषार्थ कहते हैं।

स्वामीजी फिर कहने लगे, "यदि तुम पर उनकी कृपा नहीं होती तो तुम यहाँ क्यों आते? श्रीगुरुदेव कहा करते थे, 'जिन पर भगवान की कृपा हुई है उनको यहाँ अवश्य ही आना होगा। वह कहीं भी क्यों न रहे, कुछ भी क्यों न करे, यहाँ की बातों से और यहाँ के भावों से उसे अवश्य अभिभूत होना होगा।' तुम अपने ही सम्बन्ध में सोचकर देखो न, जो नाग महाशय भगवान की कृपा से सिद्ध हुए थे और उनकी कृपा को ठीक ठीक समझते थे, उनका सत्संग भी क्या बिना ईश्वर की कृपा के कभी हो सकता है? 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' जन्म-जन्मान्तर की सुकृति से ही महापुरुषों के दर्शन होते हैं। शास्त्र में उत्तमा भक्ति के जो लक्षण दिये हैं, वे सभी नाग महाशय में प्रकट हुए थे। लोग जो 'तृणादपि सुनीचेन' कहते हैं वह एकमात्र नाग महाशय में ही मैंने देखा है। तुम्हारा पूर्व बंगाल देश धन्य है, क्योंकि नाग महाशय के चरणरेणु से वह पवित्र हो गया है।"

बातचीत करते हुए स्वामीजी महाकवि गिरीशचन्द्र घोष के भवन की ओर घूमते हुए निकले। स्वामी योगानन्द और शिष्य भी साथ चले। गिरीश बाबू के भवन में उपस्थित होकर स्वामीजी ने आसन ग्रहण किया और कहा, "जी० सी०*, आजकल मन में

* गिरीशचन्द्र को स्वामीजी जी० सी० कहकर पुकारा करते थे।

केवल यही उदय हो रहा कि यह करूँ, वह करूँ, उनके वचनों को संसार में फैला दूं इत्यादि। फिर यह भी शंका होती है कि इससे भारत में कहीं एक नवीन सम्प्रदाय का सृजन न हो जाय। इसलिए बड़ी सावधानी से चलना पड़ता है। कभी ऐसा भी विचार हो आता है कि यदि कोई सम्प्रदाय बन जाय तो बन जाने दो। फिर सोचता हूँ कि नहीं, उन्होंने तो किसी के भाव को कभी नष्ट नहीं किया। समदर्शन करना ही उनका भाव था। ऐसा विचार कर अपनी इच्छा को समय समय पर दबा देता हूँ। इस बारे में तुम्हारा क्या विचार है ?"

गिरीश बाबू—मेरा विचार और क्या हो सकता है। तुम तो उनके हाथ में यन्त्र के समान हो, जो करायेंगे वह तुमको अवश्य करना होगा। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो देखता हूँ कि प्रभु की शक्ति ही तुमसे कार्य करा रही है। मुझे स्पष्ट यह प्रत्यक्ष हो रहा है।

स्वामीजी—और मैं देखता हूँ कि हम अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहे हैं। परन्तु अपने आपद तथा विपद में, अभाव और दारिद्रय में भी वे प्रत्यक्ष होकर ठीक मार्ग पर मुझे चलाते हैं यह भी मैंने देखा है। परन्तु प्रभु की शक्ति का कुछ भी अनुमान नहीं कर सका।

गिरीश बाबू—उन्होंने तुम्हारे विषय में कहा था कि सब समझ जाने से ही सब शून्य हो जायगा; तो फिर कौन करेगा और किससे करायेगा ?

ऐसे वार्तालाप के पश्चात् अमरीका के प्रसंग पर बातें होने लगीं। गिरीश बाबू ने स्वामीजी का ध्यान अन्य प्रसंग में ले जाने के लिए अपनी इच्छा से ही इस प्रसंग का आरम्भ किया, यही

मेरा अनुमान है। ऐसा करने का कारण पूछने पर गिरीश बाबू ने दूसरे समय मुझसे कहा था, "श्रीगुरुदेव के श्रीमुख से सुना है कि इस प्रकार के विषय का वार्तालाप करते करते यदि स्वामीजी को संसार-वैराग्य या ईश्वरोद्दीपना होकर अपने स्वरूप का एक बार दर्शन हो जाय, (अर्थात् वे अपने स्वरूप को पहिचान जायँ) तो एक क्षण भी उनका शरीर नहीं रहेगा।" इसीलिए मैंने देखा कि स्वामीजी के संन्यासी गुरुभाइयों ने जब जब उनको चौबीसों घण्टे श्रीगुरुदेव का प्रसंग करते हुए पाया, तब तब अन्यान्य प्रसंगों में उनका मन लगा दिया। अब अमरीका के प्रसंग में स्वामीजी तल्लीन हो गये। वहाँ की समृद्धि तथा स्त्री पुरुषों का गुणावगुण और उनके भोग-विलास इत्यादि की नाना कथाओं का वर्णन करने लगे।

परिच्छेद १०

स्थान—कलकत्ता

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—स्वामीजी का शिष्य को ऋग्वेद पढ़ाना—पण्डित मैक्समूलर के सम्बन्ध में स्वामीजी का अद्भुत विश्वास—ईश्वर ने वेदमन्त्र का आश्रय लेकर सृष्टि रची है, इस वैदिक मत का अर्थ—वेद शब्दात्मक—'शब्द' पद का प्राचीन अर्थ—नाद से शब्द का और शब्द से स्थूल जगत् के विकास का समाधि-अवस्था में प्रत्यक्ष होना—समाधि-अवस्था में अवतारी पुरुषों को यह विषय कैसा प्रतिभात होता है—स्वामीजी की सहृदयता—ज्ञान और प्रेम के अविच्छेद्य सम्बन्ध के विषय में गिरीश बाबू से शिष्य का वार्तालाप—गिरीश बाबू के सिद्धान्त शास्त्र के विरोधी नहीं—गुरुभक्तिरूपी शक्ति से गिरीश बाबू ने सत्यसिद्धान्तों को प्रत्यक्ष किया—बिना समझे ही दूसरों का अनुकरण करने लगना अनुचित है—भक्त तथा ज्ञानी भिन्न भिन्न स्थानों से निरीक्षण करके कहते हैं, इसीसे उनके कथन में कुछ भिन्नता का आभास होना—सेवाश्रम स्थापन करने के निमित्त स्वामीजी का विचार।

आज दस दिन से शिष्य स्वामीजी से ऋग्वेद का सायनभाष्य पढ़ता है। स्वामीजी बागबाजार में स्व० बलराम बसुजी के भवन में ही ठहरे हुए हैं। किसी धनी के घर से मैक्समूलर के प्रकाशित किये हुए ऋग्वेद ग्रन्थ के सब भाग लाये गये हैं। प्रथम तो ग्रन्थ नया, तिस पर वैदिक भाषा कठिन होने के कारण अनेक स्थानों पर शिष्य अटक जाता था। यह देखकर स्वामीजी उसको स्नेह से गँवार कहकर कभी कभी उसकी हँसी उड़ाते थे और उन स्थानों का उच्चारण तथा पाठ बतलाते थे। वेद के अनादित्व को

प्रमाणित करने के निमित्त सायनाचार्य ने जो अद्भुत युक्तिकौशल प्रकट किया है उसकी व्याख्या करते समय स्वामीजी ने भाष्यकार की बहुत प्रशंसा की और कहीं कहीं प्रमाण देकर उन पदों के गूढ़ार्थ पर अपना भिन्न मत प्रकट कर सायन की ओर कटाक्ष भी किया।

इसी प्रकार कुछ देर तक पठनपाठन होने पर स्वामीजी ने मैक्समूलर के सम्बन्ध में कहा, "मुझे कभी कभी ऐसा अनुमान होता है कि स्वयं सायनाचार्य ने अपने भाष्य का अपने ही आप उद्धार करने के निमित्त मैक्समूलर के रूप में पुनः जन्म लिया है। ऐसा सिद्धान्त मेरा बहुत दिनों से था, पर मैक्समूलर को देखकर मेरा सिद्धान्त और भी दृढ़ हो गया है। ऐसा परिश्रमी और ऐसा वेदवेदान्तसिद्ध पण्डित हमारे देश में भी नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त श्रीरामकृष्ण पर भी उनकी कैसी गम्भीर भक्ति थी! उनके अवतारत्व पर भी उनका विश्वास है। मैं उनके ही भवन में अतिथि रहा था—कैसी देखभाल और सत्कार किया! दोनों वृद्ध पति-पत्नी को देखकर ऐसा अनुमान होता था कि मानो श्रीवशिष्ठ देव और देवी अरुन्धती संसार में वास कर रहे हैं। मुझे विदा करते समय वृद्ध की आँखों से आँसू टपकने लगे।"

शिष्य—अच्छा महाराज, यदि सायन ही मैक्समूलर हुए हैं, तो पवित्र भूमि भारत को छोड़कर उन्होंने म्लेच्छ बन कर क्यों जन्म लिया?

स्वामीजी—'मैं आर्य हूँ,' 'वे म्लेच्छ हैं' आदि विचार अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। जो वेद के भाष्यकार हैं, जो ज्ञान की तेजस्वी मूर्ति हैं उनके लिए वर्णाश्रम या जातिविभाग कैसा? उनके सम्मुख यह सब अर्थहीन है। जीव के उपकारार्थ वे जहाँ चाहें, जन्म ले सकते हैं। विशेषकर जिस देश में विद्या और धन

दोनों हैं, वहाँ यदि जन्म न लेते, तो ऐसा बड़ा ग्रन्थ छापने का व्यय कहाँ से आता ? क्या तुमने नहीं सुना कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इस ऋग्वेद के छपवाने के लिए नौ लाख रुपये नकद दिये थे, परन्तु उससे भी काम पूरा नहीं हुआ। यहाँ के (भारत के) सैकड़ों वैदिक पण्डितों को मासिक वेतन देकर इस कार्य में नियुक्त किया गया था। विद्या और ज्ञान के निमित्त इतना व्यय और ऐसी प्रबल ज्ञान की तृष्णा वर्तमान समय में क्या किसी ने इस देश में देखी है ? मैक्समूलर ने स्वयं ही भूमिका में लिखा है कि वे पच्चीस वर्ष तक तो केवल इसके लिखने में ही लगे रहे और फिर छपवाने में बीस वर्ष और लगे। पैंतालीस वर्ष तक एक ही पुस्तक में लगे रहना क्या साधारण मनुष्य का कार्य है ? इसीसे समझ लो कि मैं क्यों उनको स्वयं सायन कहता हूँ।

मैक्समूलर के विषय में ऐसा वार्तालाप होने के पश्चात् फिर ग्रन्थपाठ होने लगा। वेद का आश्रय लेकर ही सृष्टि का विकास हुआ है, यह जो सायन का मत है, स्वामीजी ने नाना प्रकार से इसका समर्थन किया और कहा, "वेद का अर्थ अनादि सत्यों का समूह है। वेदज्ञ ऋषियों ने इन सत्यों को प्रत्यक्ष किया था। बिना अतीन्द्रिय दृष्टि के साधारण दृष्टि से ये सत्य प्रत्यक्ष नहीं होते। इसीसे वेद में ऋषि का अर्थ मन्त्रार्थदर्शी है, यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण नहीं। ब्राह्मणादि जातिविभाग वेद के बाद हुआ था। वेद शब्दात्मक अर्थात् भावात्मक हैं—अथवा अनन्त भावराशि की समष्टि को ही वेद कहते हैं। 'शब्द' इस पद का वैदिक प्राचीन अर्थ सूक्ष्म-भाव है, जो फिर आगे स्थूल रूप से अपने को व्यक्त करता है। इसलिए प्रलयकाल में भावी सृष्टि का सूक्ष्म बीजसमूह वेद में ही सम्पुटित रहता है। इसीसे पुराण में पहले पहल मीनावतार से

वेद का उद्धार दिखायी देता है। प्रथमावतार से ही वेद का उद्धार हुआ। फिर उसी वेद से क्रमशः सृष्टि का विकास होने लगा। अर्थात् वेदनिहित शब्दों का आश्रय लेकर विश्व के सब स्थूल पदार्थ एक एक करके बनने लगे, क्योंकि शब्द या भाव सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म रूप हैं। पूर्व कल्पों में भी इसी प्रकार सृष्टि हुई थी, यह बात वैदिक सन्ध्या के मन्त्र में ही है, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीं चान्तरीक्षमथो स्वः।' समझे ?"

शिष्य--परन्तु महाराज, यदि कोई वस्तु ही न हो, तो शब्द किसके लिए प्रयोग होगा ? और पदार्थों के नाम भी कैसे बनेंगे ?

स्वामीजी--वर्तमान अवस्था में ऐसा ही अनुमान होता है। परन्तु देखो यह जो घट है, इसके टूट जाने पर क्या घटत्व भी नाश हो जायगा ? क्योंकि यह घट स्थूल है और घटत्व घट की सूक्ष्म या शब्दावस्था है। इसी प्रकार सब पदार्थों की शब्दावस्था ही उनकी सूक्ष्मावस्था है और जिन वस्तुओं को हम देखते हैं, स्पर्श करते हैं, वे ऐसी शब्दावस्था में अवस्थित पदार्थों के स्थूल विकास मात्र हैं, जैसे कार्य और उसका कारण। जगत् के नाश होने पर भी जगत्बोधात्मक शब्द अर्थात् सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म स्वरूप, ब्रह्म में कारणरूप से वर्तमान रहते हैं। जगद्विकास होने के पूर्व ही प्रथम इन पदार्थों की सूक्ष्मस्वरूपसमष्टि लहराने लगती है और उसीका प्रकृतिस्वरूप शब्दगर्भात्मक अनादि नाद ओंकार अपने आप ही उठता है। उसके बाद उसी समष्टि से विशेष विशेष पदार्थों की प्रथम सूक्ष्म प्रतिकृति अर्थात् शाब्दिक रूप और तत्पश्चात् उनका स्थूल रूप प्रकट होता है। यह शब्द ही वेद है। यही सायन का अभिप्राय है, समझे ?

शिष्य--महाराज, ठीक समझ में नहीं आया।

स्वामीजी—यहाँ तक तो समझ गये कि जगत् में जितने घट हैं उन सब के नष्ट होने पर भी 'घट' शब्द रह सकता है। फिर जगत् नाश हो जाने पर अर्थात् जिन वस्तुओं की समष्टि को जगत् कहते हैं, उनके नाश होने पर भी उन पदार्थों के बोध कराने वाले शब्द क्यों नहीं रह सकते हैं? और उनसे सृष्टि फिर क्यों नहीं प्रकट हो सकती?

शिष्य—परन्तु महाराज, 'घट घट' चिल्लाने से तो घट नहीं बनता है।

स्वामीजी—तेरे या मेरे इस प्रकार चिल्लाने से नहीं बनते किन्तु सिद्धसंकल्प ब्रह्म में घट की स्मृति होते ही घट का प्रकाश हो जाता है। जब साधारण साधकों की इच्छा से अघटन घटित हो जाता है, तब सिद्धसंकल्प ब्रह्म का कहना ही क्या है। सृष्टि से पूर्व ब्रह्म प्रथम शब्दात्मक बनते हैं, फिर ओंकारात्मक या नादात्मक होते हैं। तत्पश्चात् पहले कल्पों के विशेष विशेष शब्द जैसे भूः, भुवः, स्वः अथवा गो, मानव, घट, पट इत्यादि का प्रकाश उसी ओंकार से होता है। सिद्धसंकल्प ब्रह्म में क्रमशः एक-एक शब्द के होते ही उसी क्षण उन उन पदार्थों का भी प्रकाश हो जाता है और इस विचित्र जगत् का विकास हो उठता है। अब समझे न कि कैसे शब्द ही सृष्टि का मूल है?

शिष्य—हाँ महाराज, समझ में तो आया, किन्तु ठीक धारणा नहीं होती।

स्वामीजी—अरे बच्चा! प्रत्यक्षरूप से अनुभूति होना क्या ऐसा सुगम समझा है? जब मन ब्रह्मावगाही होता है, तभी वह एक एक करके ऐसी अवस्थाओं में से होकर निर्विकल्प अवस्था में पहुँचता है। समाधि के पूर्वकाल में पहले अनुभव होता है कि

जगत् शब्दमय है, फिर वह शब्द गम्भीर ओंकार-ध्वनि में लीन हो जाता है। तत्पश्चात् वह भी सुनायी नहीं पड़ता और जो भी सुनने में आता है, उसके वास्तविक अस्तित्व पर सन्देह होने लगता है। इसी को अनादि नाद कहते हैं। इस अवस्था से आगे ही मन प्रत्यक्-ब्रह्म में लीन हो जाता है। बस, यहाँ सब निर्वाक् और स्थिर हो जाता है।

स्वामीजी की बातों से शिष्य को स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि स्वामीजी स्वयं इन अवस्थाओं में से होकर समाधि-भूमि पर अनेक बार गमनागमन कर चुके हैं। यदि ऐसा न होता तो ऐसे विशद रूप से वे इन सब बातों को समझा कैसे रहे थे? शिष्य ने निर्वाक् होकर सुना और विचार किया कि स्वयं इन अवस्थाओं की अनुभूति न करने से कोई दूसरों को ऐसी सुगमता से इन बातों को समझा नहीं सकता।

स्वामीजी ने फिर कहा, "अवतारतुल्य महापुरुष लोग समाधि अवस्था से जब 'मैं' और 'मेरा' राज्य में लौट आते हैं, तब वे प्रथम ही अव्यक्त नाद का अनुभव करते हैं। फिर नाद के स्पष्ट होने पर ओंकार का अनुभव करते हैं। ओंकार के पश्चात् शब्द-मय जगत् का अनुभव कर अन्त में स्थूल पंचभौतिक जगत् को प्रत्यक्ष देखते हैं। किन्तु साधारण साधक लोग अनेक कष्ट सहकर यदि किसी प्रकार से नाद के परे पहुँचकर ब्रह्म की साक्षात् उपलब्धि करें भी, तो फिर जिस अवस्था में स्थूल जगत् का अनुभव होता है वहाँ वे उतर नहीं सकते—ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं—'क्षीरे नीरवत्'।"

यह वार्तालाप हो ही रहा था कि इसी समय महाकवि गिरीशचन्द्र घोष वहाँ आ पहुँचे। स्वामीजी उनका अभिवादन कर

तथा कुशल प्रश्नादि पूछकर पुनः शिष्य को पढ़ाने लगे। गिरीश बाबू भी एकाग्रचित्त हो उसे सुनने लगे और स्वामीजी की इस प्रकार अपूर्व विशद रूप से वेदव्याख्या सुन मुग्ध होकर बैठे रहे।

पूर्व विषय का अनुसरण करके स्वामीजी फिर कहने लगे, "वैदिक और लौकिक भेद से शब्द दो अंशों में विभक्त हैं। 'शब्दशक्तिप्रकाशिका' * में इसका विचार मैंने देखा है। इन विचारों से गम्भीर ध्यान का परिचय मिलता है, किन्तु पारिभाषिक शब्दों के मारे सिर में चक्कर आ जाता है।"

अब गिरीश बाबू की ओर मुँह करके स्वामीजी बोले, "क्या गिरीश बाबू, तुमने यह सब तो नहीं पढ़ा; केवल कृष्ण और विष्णु का नाम लेकर ही अपनी आयु बितायी है न?"

गिरीश बाबू—और क्या पढ़ूँ भाई! इतना अवसर भी नहीं और बुद्धि भी नहीं कि वह सब समझ सकूँ। परन्तु श्रीगुरुदेव की कृपा से उन सब वेद-वेदान्तों को नमस्कार करके इस जन्म में ही पार उतर जाऊँगा। वे तुमसे अनेक कार्य करायेंगे, इसी निमित्त यह सब पढ़ा रहे हैं, उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है।

इतना ही कहकर गिरीश बाबू ने उस बृहत् ऋग्वेद ग्रन्थ को बारम्बार प्रणाम किया और कहा, "जय वेदरूपी रामकृष्णजी की जय!"

पाठकों से हम अन्यत्र कह चुके हैं कि स्वामीजी जब जिस विषय का उपदेश करते थे, तब सुनने वालों के मन में वह विषय ऐसी गम्भीरता से अंकित हो जाता था कि उस समय वे उस विषय को ही सब से श्रेष्ठ अनुमान करते थे। जब ब्रह्मज्ञान के विषय में कहा करते थे तब सुनने वाले उसको प्राप्त करना ही

---

* न्यायप्रस्थान का एक विशेष ग्रन्थ।

जीवन का एकमात्र उद्देश्य समझते थे। फिर जब भक्ति या कर्म या जातीय उन्नति आदि अन्यान्य विषयों का प्रसंग चलाते थे, तब श्रोता लोग उन विषयों को ही अपने मन में सब से ऊँचा स्थान दिया करते थे और उन्हीं का अनुष्ठान करने को तत्पर हो जाया करते थे। अब स्वामीजी ने वेद के प्रसंग में शिष्य आदि को वेदोक्त ज्ञान की महिमा से इतना मोहित किया कि वे (शिष्य आदि) अब यह नहीं समझ सकते थे कि इससे भी और कोई श्रेष्ठ वस्तु हो सकती है। गिरीश बाबू ने इस बात को ताड़ लिया। स्वामीजी के महान् उदार भाव तथा शिक्षा देने की ऐसी सुन्दर रीति को वे पहले से ही जानते थे। अब गिरीश बाबू ने मन ही मन में एक नयी युक्ति सोची कि जिससे स्वामीजी अपने शिष्य को ज्ञान, भक्ति और कर्म का समान महत्त्व समझा दें।

स्वामीजी अन्यमनस्क होकर और ही कुछ विचार कर रहे थे। इसी समय गिरीश बाबू ने कहा, "हाँ जी नरेन्द्र, तुम्हें एक बात सुनाऊँ? वेद-वेदान्त को तुमने पढ़ लिया, परन्तु देश में जो घोर हाहाकार, अन्नाभाव, व्यभिचार, भ्रूणहत्या तथा अन्य महापातकादि आँखों के सामने रात-दिन हो रहे हैं उनके दूर करने का भी कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में बतलाया है? आज तीन दिन से उस मकान की स्वामिनी के पास, जिसके घर में पहले प्रति दिन पचास पत्तल पड़ती थीं, रसोई पकाने की भी कोई सामग्री नहीं है। उस मकान की कुलस्त्रियों को गुण्डों ने अत्याचार करके मार डाला, कहीं भ्रूणहत्या हुई, कहीं विधवाओं का सारा धन कपट से लूट लिया गया। इन सब अत्याचारों के रोकने का कोई उपाय क्या तुम्हारे वेद में है?" इस प्रकार जब गिरीश बाबू सामाजिक भीषण चित्रों को सामने लाने लगे तो

स्वामीजी निस्तब्ध होकर बैठ गये। जगत् के दु:ख और कष्ट को सोचते सोचते स्वामीजी की आँखों से आँसू टपकने लगे और इसके बाद वे उठकर बाहर चले गये, मानो वे हमसे अपने मन की अवस्था छिपाना चाहते हों।

इस अवसर पर गिरीश बाबू ने शिष्य को लक्ष्य करके कहा, "देखो, स्वामीजी कैसे उदार हृदय के हैं। मैं तुम्हारे स्वामीजी का केवल इसी कारण आदर नहीं करता कि वे वेद-वेदान्त के जानने वाले एक बड़े पण्डित हैं; वरन् यह कि जीवों के दु:ख से वे रो जो पड़े और रोते रोते बाहर चले गये, मैं उनके इसी सच्चे हृदय के कारण उनका सम्मान करता हूँ। तुमने तो सामने ही देखा कि मनुष्यों के दु:ख और कष्ट की बातों को सुनकर उनका हृदय दया से पूर्ण हो गया और वेद-वेदान्त के सब विचार न जाने कहाँ भाग गये।"

शिष्य—महाशय, हम कितने प्रेम से वेद पढ़ रहे थे! आपने मायाधीन जगत् की क्या ऐसी-वैसी बातों को सुनाकर स्वामीजी का मन दुखा दिया।

गिरीश बाबू—क्या जगत् में ऐसे दु:ख और कष्ट के रहते हुए भी स्वामीजी उधर न देखकर एकान्त में केवल वेद ही पढ़ते रहेंगे! उठाकर रख दो अपने वेद-वेदान्त को।

शिष्य—आप स्वयं हृदयवान हैं, इसी से केवल हृदय की भाषा को सुनने में आप की प्रीति है, परन्तु इन सब शास्त्रों में, जिनके अध्ययन से लोग जगत् को भूल जाते हैं, आपकी प्रीति नहीं है। नहीं तो आपने ऐसा रसभंग न किया होता।

गिरीश बाबू—अच्छा, ज्ञान और प्रेम में भेद कहाँ है, यह मुझे समझा तो दो। देखो तुम्हारे गुरु (स्वामीजी) जैसे पण्डित हैं,

वैसे ही प्रेमी भी हैं। तुम्हारा वेद भी तो कहता है कि 'सत्-चित्-आनन्द' ये तीनों एक ही वस्तु हैं। देखो, स्वामीजी अभी कितना पाण्डित्य प्रकाश कर रहे थे, परन्तु जगत् के दुःख को सुनते ही और उन क्लेशों का स्मरण आते ही वे जीवों के दुःख से रोने लगे। यदि वेद-वेदान्त में ज्ञान और प्रेम में भेद दिखलाया गया है, तो मैं ऐसे शास्त्रों को दूर से ही दण्डवत् करता हूँ।

शिष्य निर्वाक् होकर सोचने लगा, "बिलकुल ठीक, गिरीश बाबू के सब सिद्धान्त यथार्थ में वेदों के अनुकूल ही हैं।"

इतने में स्वामीजी फिर आये और शिष्य को सम्बोधित करके कहा, "कहो, क्या बातचीत हो रही थी?" शिष्य ने उत्तर दिया, "वेदों का ही प्रसंग हो रहा था। गिरीश बाबू ने इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ा है, परन्तु इनके सिद्धान्तों का ठीक ठीक अनुभव कर लिया है। यह बड़े ही विस्मय की बात है।"

स्वामीजी—गुरुभक्ति से सब सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो जाते हैं, फिर पढ़ने या सुनने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, परन्तु ऐसी भक्ति और विश्वास जगत् में दुर्लभ हैं। जिनकी गिरीश बाबू के समान भक्ति और विश्वास है, उन्हें शास्त्रों को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं; परन्तु गिरीश बाबू का अनुकरण करना औरों के लिए हानिकारक है। उनकी बातों को मानो, पर उनके आचरण देखकर कोई कार्य न करो।

शिष्य—जी महाराज।

स्वामीजी—केवल 'जी' कहने से काम नहीं चलता। मैं जो कहता हूँ उसको ठीक ठीक समझ लो; मूर्ख के समान सब बातों पर 'जी' न कहा करो। मेरे कहने पर भी किसी बात पर विश्वास न किया करो। जब ठीक समझ जाओ, तभी उसको ग्रहण करो।

श्रीगुरुदेव ने अपनी सब बातों को समझकर ग्रहण करने को मुझसे कहा था। सद्युक्ति, तर्क और शास्त्र जो कहते हैं, उन सब को सदा अपने पास रखो। सत् विचार से बुद्धि निर्मल होती है और फिर उसी बुद्धि में ब्रह्म का प्रकाश होता है। अब समझे न ?

शिष्य—जी हाँ; परन्तु भिन्न भिन्न लोगों की भिन्न भिन्न बातों से मस्तिष्क ठीक नहीं रहता। अब गिरीश बाबू ने कहा, 'क्या होगा यह सब वेद-वेदान्त को पढ़कर ?' फिर आप कहते हैं, 'विचार करो' अब मुझे क्या करना चाहिए ?

स्वामीजी—हमारी और उनकी दोनों की बातें सत्य हैं; परन्तु दोनों की उक्ति दो विभिन्न ओर से आयी हैं—बस। एक अवस्था ऐसी है, जहाँ युक्ति या तर्क का अन्त हो जाता है—'मूकास्वादनवत्' और एक अवस्था है, जहाँ वेदादि शास्त्रों की आलोचना या पठनपाठन करते करते सत्य वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तुम्हें इन सब को पढ़ना होगा, तभी तुमको यह बात प्रत्यक्ष होगी।

निर्बोध शिष्य ने स्वामीजी के ऐसे आदेश को सुनकर और यह समझकर कि गिरीश बाबू परास्त हुए, उनकी ओर देखकर कहा, "महाशय, आपने तो सुना कि स्वामीजी ने मुझे वेद-वेदान्त का पठनपाठन और विचार करने का ही आदेश दिया है।"

गिरीश बाबू—तुम ऐसा ही करते जाओ। स्वामीजी के आशीर्वाद से तुम्हारा सब काम इसीसे ठीक हो जायगा।

अब स्वामी सदानन्द वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही स्वामीजी ने कहा, "अरे, जी० सी० से देश की दुर्दशाओं को सुनकर मेरे प्राण बड़े व्याकुल हो रहे हैं। देश के लिए क्या तुम कुछ कर सकते हो ?"

सदानन्द—महाराज, आदेश कीजिये, दास प्रस्तुत है।

स्वामीजी—पहले एक छोटा-सा सेवाश्रम स्थापित करो, जहाँ से सब दीन-दुखियों को सहायता मिला करे और जहाँ पर रोगियों तथा असहाय लोगों की बिना जाति-भेद के सेवा हुआ करे। समझे?

सदानन्द—जो महाराज की आज्ञा।

स्वामीजी—जीव-सेवा से बढ़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं है। सेवाधर्म का यथार्थ अनुष्ठान करने से संसार का बन्धन सुगमता से छिन्न हो जाता है—'मुक्तिः करफलायते।'

अब गिरीश बाबू से स्वामीजी बोले, "देखो गिरीश बाबू, मन में ऐसे भाव उदय होते हैं कि यदि जगत् के दुःख दूर करने के लिए मुझे सहस्रों बार जन्म लेना पड़े तो भी मैं तैयार हूँ। इससे यदि किसी का तनिक भी दुःख दूर हो, तो वह मैं करूँगा। और ऐसा भी मन में आता है कि केवल अपनी ही मुक्ति से क्या होगा। सब को साथ लेकर उस मार्ग पर जाना होगा। क्या तुम कह सकते हो कि ऐसे भाव मन में क्यों उदय हो रहे हैं?"

गिरीश बाबू—यदि ऐसा न होता तो श्रीगुरुदेव तुम्हीं को सब से ऊँचा आधार क्यों कहा करते?

यह कहकर गिरीश बाबू अन्य कार्य के लिए चले गये।

परिच्छेद ११

स्थान—आलम बाजार मठ

वर्ष—१८९७ ईसवी

विषय—मठ में स्वामीजी से कुछ लोगों का संन्यास-दीक्षाग्रहण—संन्यासधर्म विषय पर स्वामीजी का उपदेश—त्याग ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य—"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"—सर्वस्व-त्याग ही संन्यास—संन्यास ग्रहण करने का कोई कालाकाल नहीं—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"—चार प्रकार के संन्यास—भगवान बुद्धदेव के पश्चात् ही विविदिषा संन्यास की वृद्धि—बुद्धदेव के पहले संन्यास आश्रम के रहने पर भी यह नहीं समझा जाता था कि त्याग या वैराग्य ही मनुष्यजीवन का लक्ष्य है—"निकम्मे संन्यासीगण से देश का कोई कार्य नहीं होता" इत्यादि सिद्धान्त का खण्डन—यथार्थ संन्यासी अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा कर जगत् का कल्याण करते हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि जब स्वामीजी प्रथम बार विलायत से कलकत्ते को लौटे थे, तब उनके पास बहुतसे उत्साही युवकों का आना जाना लगा रहता था। इस समय स्वामीजी बहुधा अविवाहित युवकों को ब्रह्मचर्य और त्याग सम्बन्धी उपदेश दिया करते थे और संन्यास ग्रहण अर्थात् अपना मोक्ष और जगत् के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग करने को बहुधा उत्साहित किया करते थे। हमने अक्सर उनको कहते सुना कि संन्यास ग्रहण किये बिना किसी को यथार्थ आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। केवल यही नहीं, बिना संन्यास ग्रहण किये बहुजन-हितकारी तथा बहुजन-सुखकारी किसी कार्य का अनुष्ठान या उसका सिद्धिलाभ नहीं हो सकता।

स्वामीजी उत्साही युवकों के सामने सदैव त्याग के उच्च आदर्श रखते थे, और किसी के संन्यास लेने की इच्छा प्रकट करने पर उसको बहुत उत्साहित करते थे और उस पर कृपा भी करते थे। कई एक भाग्यवान युवकों ने उनके उत्साहपूर्ण वचन से उस समय गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया। इनमें से जिन चार को स्वामीजी ने पहले संन्यास दिया था उनके संन्यासव्रत ग्रहण करने के दिन शिष्य आलम बाज़ार मठ में उपस्थित था। वह दिन शिष्य को अभी तक स्मरण है।

आजकल श्रीरामकृष्ण संघ मे स्वामी नित्यानन्द, विरजानन्द, प्रकाशानन्द और निर्भयानन्द नाम से जो लोग सुपरिचित हैं, उन्होंने ही उस दिन संन्यास ग्रहण किया था। मठ के संन्यासियों से शिष्य ने बहुधा सुना है कि स्वामीजी के गुरुभाइयों ने उनसे बहुत अनुरोध किया कि इनमें से एक को संन्यास दीक्षा न दी जाय। इसके प्रत्युत्तर में स्वामीजी ने कहा था, "यदि हम पापी, तापी, दीन दुखी और पतितों का उद्धारसाधन करने से हट जायँ, तो फिर इनको कौन देखेगा? तुम इस विषय में किसी प्रकार की बाधा न डालो।" स्वामीजी की बलवती इच्छा ही पूर्ण हुई। अनाथशरण स्वामीजी अपने कृपा-गुण से उनको संन्यास देने में कृतसंकल्प हुए।

शिष्य आज दो दिन से मठ में ही रहता है। स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "तुम तो ब्राह्मण-पुरोहितों में से हो। कल तुम्हीं इनकी श्राद्धादि क्रिया करा देना और अगले दिन मैं इनको संन्यासाश्रम में दीक्षित करूँगा। आज पोथीपाथी पढ़कर सब कुछ देख रखो।" शिष्य ने स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य की।

संन्यासव्रत धारण करने का निश्चय कर उन चार ब्रह्मचारियों

ने एक दिन पहले अपना सिर मुण्डन कराया और गंगास्नान कर शुभ्र वस्त्र धारण कर स्वामीजी के चरणकमलों की वन्दना की और स्वामीजी के स्नेहाशीर्वाद को प्राप्त करके श्राद्धक्रिया के निमित्त तैयार हुए।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो शास्त्रानुसार संन्यास ग्रहण करते हैं, उनको इस समय अपनी श्राद्धक्रिया स्वयं ही कर लेनी पड़ती है, क्योंकि संन्यास लेने से उनका फिर लौकिक या वैदिक किसी विषय पर कोई अधिकार नहीं रह जाता है। पुत्र-पौत्रादिकृत श्राद्ध या पिण्डदानादि क्रिया का फल उनको स्पर्श नहीं करता। इसलिए संन्यास लेने के पहले अपनी श्राद्ध-क्रिया अपने ही को करनी पड़ती है, अपने पैरों पर अपना पिण्ड धरकर संसार के, यहाँ तक कि अपने शरीर के पूर्व सम्बन्धों का भी संकल्प द्वारा निःशेष विलोप करना पड़ता है। इस क्रिया को संन्यास ग्रहण की अधिवास-क्रिया कह सकते हैं। शिष्य ने देखा है कि इन वैदिक कर्म-काण्डों पर स्वामीजी का पूर्ण विश्वास था। वे उन क्रिया-काण्डों के शास्त्रानुसार ठीकठीक न होने पर बड़े नाराज़ होते थे। आजकल बहुत से लोगों का यह विचार है कि गेरुए वस्त्र धारण करने से ही संन्यासदीक्षा हो जाती है, परन्तु स्वामीजी का ऐसा विचार कभी नहीं था। बहुत प्राचीन काल से प्रचलित ब्रह्मविद्यासाधनोपयोगी संन्यासव्रत ग्रहण करने के पहले अनुष्ठेय, गुरुपरम्परागत नैष्ठिक संस्कारों का वे ब्रह्मचारियों से ठीक ठीक साधन कराते थे। हमने यह भी सुना है कि परमहंस देव के अन्तर्धान होने पर स्वामीजी ने उपनिषदादि शास्त्रों में वर्णित संन्यास लेने की पद्धतियों को मँगवाकर उनके अनुसार श्रीगुरुदेव के चित्र को सम्मुख रखकर अपने गुरुभाइयों के साथ

वैदिक मत से संन्यास ग्रहण किया था।

आलम बाजार मठ के दुमंजिले पर जल रखने के स्थान में श्राद्धक्रिया के लिए उपयोगी सब सामग्री एकत्रित की गयी थी। स्वामी नित्यानन्दजी ने पितृपुरुषों की श्राद्धक्रिया अनेक बार की थी, इस कारण आवश्यक चीजों के एकत्रित करने में कोई त्रुटि नहीं हुई। स्वामीजी के आदेश से शिष्य स्नान करके पुरोहित का कार्य करने को तत्पर हुआ। मन्त्रादि का ठीक ठीक उच्चारण तथा पाठ होने लगा। स्वामीजी कभी कभी देख जाते थे। श्राद्ध-क्रिया के अन्त में जब चारों ब्रह्मचारियों ने अपने अपने पिण्डों को अपने अपने पाँव पर रखा, तब से सांसारिक दृष्टि से वे मृतवत् प्रतीत हुए। यह देख शिष्य का हृदय बड़ा व्याकुल हुआ और संन्यासाश्रम की कठोरता का स्मरण कर उसका हृदय काँप उठा। पिण्डों को उठाकर जब वे गंगाजी को चले गये तब स्वामीजी शिष्य को व्याकुल देखकर बोले, "यह सब देखकर तेरे मन में भय उपजा है न?" शिष्य के सिर झुका लेने पर स्वामीजी बोले, "आज से इन सब की सांसारिक विषयों से मृत्यु हो गयी। कल से इनकी नवीन देह, नवीन चिन्ता, नवीन वस्त्रादि होंगे। ये ब्रह्मवीर्य से दीप्त होकर प्रज्वलित अग्नि के समान अवस्थान करेंगे। 'न धनेन न चेज्यया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।'"

स्वामीजी की बातों को सुनकर शिष्य निर्वाक् खड़ा रहा। संन्यास की कठोरता को स्मरण कर उसकी बुद्धि स्तम्भित हो गयी। शास्त्र-ज्ञान का अहंकार दूर हुआ। वह सोचने लगा कि कहने और करने में बड़ा अन्तर है।

इसी बीच वे चारों ब्रह्मचारी, जो श्राद्धक्रिया कर चुके थे, गंगाजी में पिण्डादि डालकर लौट आये और उन्होंने स्वामीजी के

चरणकमलों की वन्दना की। स्वामीजी आशीर्वाद देते हुए बोले, "तुम मनुष्यजीवन के सर्वश्रेष्ठ व्रत को ग्रहण करने के लिए उत्साहित हुए हो। धन्य है तुम्हारा वंश, और धन्य है तुम्हारी गर्भधारिणी माता। 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था।' "

उस दिन रात्रि को भोजन करने के पश्चात् स्वामीजी केवल संन्यासधर्म के विषय पर ही वार्तालाप करते रहे। संन्यास लेने के अभिलाषी ब्रह्मचारियों की ओर देखकर वे बोले "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च" यही संन्यास का यथार्थ उद्देश्य है। इस बात की वेद-वेदान्त घोषणा कर रहे हैं कि संन्यास ग्रहण न करने से कोई कभी ब्रह्मज्ञ नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि इस संसार का भोग करना है और साथ ब्रह्मज्ञ भी बनना है, उनकी बात कभी न मानो। प्रच्छन्न भोगियों के ऐसे भ्रमात्मक वाक्य होते हैं। जिनके मन में संसारभोग करने की तनिक भी इच्छा है या लेशमात्र भी कामना है, वे ही इस कठिन पथ से डरते हैं, इसलिए अपने मन को सान्त्वना देने को कहते फिरते हैं कि इन दोनों पथों पर साथ साथ भी चल सकते हैं। ये सब उन्मत्तों के प्रलाप हैं—अशास्त्रीय एवं अवैदिक मत हैं, विडम्बना है। बिना त्याग के मुक्ति नहीं। बिना त्याग के पराभक्ति नहीं। त्याग—त्याग —'नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।' गीता भी कहती है 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:।' सांसारिक झगड़ों को बिना त्यागे किसी की मुक्ति नहीं होती। जो गृहस्थाश्रम में बँधे रहते हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि वे किसी न किसी प्रकार की कामना के दास बनकर संसार में फँसे हैं। यदि ऐसा न होगा तो फिर संसार में रहेंगे ही क्यों? कोई कामिनी के दास हैं, कोई अर्थ के हैं, कोई मान, यश, विद्या या पाण्डित्य के हैं। इस दासत्व को

छोड़कर बाहर निकलने से ही वे मुक्ति के पथ पर चल सकते हैं। लोग कितना ही क्यों न कहें पर मैं भलीभाँति समझ गया हूँ कि जब तक मनुष्य इन सब को त्यागकर संन्यास ग्रहण नहीं करता तब तक किसी भी प्रकार से उसके लिए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना असम्भव है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास ग्रहण करने से ही सिद्धिलाभ होता है ?

स्वामीजी—सिद्धि प्राप्त होती है या नहीं, यह बाद की बात है। जब तक तुम भीषण संसार की सीमा से बाहर नहीं आते, जब तक वासना के दासत्व को नहीं छोड़ सकते तब तक भक्ति या मुक्ति की प्राप्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। ब्रह्मज्ञों के लिए ऋद्धि-सिद्धि बड़ी तुच्छ बात है।

शिष्य—महाराज, क्या संन्यास में कुछ कालाकाल या प्रकारभेद भी है ?

स्वामीजी—संन्यासधर्म की साधना में किसी प्रकार कालाकाल नहीं है। श्रुति कहती है, 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।' जब वैराग्य का उदय हो तभी प्रव्रज्या करना उचित है। योग-वाशिष्ठ में भी है—

"युवैव धर्मशीलः स्यात् अनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥"

अर्थात् 'जीवन की अनित्यता के कारण युवाकाल में ही धर्मशील बनो। कौन जानता है कब किसका शरीर छूट जायगा ?' शास्त्रों में चार प्रकार के संन्यास का विधान पाया जाता है। (१) विद्वत् संन्यास (२) विविदिषा संन्यास (३) मर्कट संन्यास और (४) आतुर संन्यास। अचानक यथार्थ वैराग्य के उत्पन्न

होते ही संन्यास लेकर चले जाना (यह पूर्व जन्म के संस्कार से ही होता है) इसीको विद्वत् संन्यास कहते हैं। आत्मतत्त्व जानने की प्रबल इच्छा से शास्त्रपाठ या साधनादि द्वारा अपना स्वरूप जानने को किसी ब्रह्मज्ञपुरुष से संन्यास लेकर स्वाध्याय और साधनभजन करने लगना इसको विविदिषा संन्यास कहते हैं। संसार के कष्ट, स्वजन-वियोग अथवा अन्य किसी कारण से भी कोई कोई संन्यास ले लेते हैं, परन्तु यह वैराग्य दृढ़ नहीं होता। इसका नाम मर्कट-संन्यास है। जैसे श्रीरामकृष्ण कहा करते थे 'वैराग्य हुआ—कहीं दूर देश में जाकर फिर कोई नौकरी कर ली, फिर इच्छा होने पर स्त्री को बुला लिया या दूसरा विवाह कर लिया!' इनके अतिरिक्त चौथे प्रकार का आतुर संन्यास भी होता है,—मान लो किसी की मुमुर्षु अवस्था है, रोगशय्या पर पड़ा है, बचने की कोई आशा नहीं; ऐसे मनुष्य के लिए आतुर संन्यास की विधि है। यदि वह मर जाय तो पवित्र संन्यास व्रत ग्रहण करके मरेगा; दूसरे जन्म में इस पुण्य के कारण अच्छा जन्म प्राप्त होगा और यदि बच जाय तो फिर संसार में न जाकर ब्रह्मज्ञान के लिए संन्यासी बनकर दिन व्यतीत करेगा। स्वामी शिवानन्दजी ने तुम्हारे चाचा को यह आतुर संन्यास दिया था। तुम्हारे चाचा मर गये, परन्तु इस प्रकार से संन्यास लेने के कारण उनको उच्च जन्म मिलेगा। संन्यास के अतिरिक्त आत्मज्ञान लाभ करने का दूसरा उपाय नहीं है।'

शिष्य—महाराज, गृहस्थों के लिए फिर क्या उपाय है?

स्वामीजी—सुकृति से किसी न किसी जन्म में उन्हें वैराग्य अवश्य होगा। वैराग्य के आते ही कार्य बन जाता है अर्थात् जन्ममृत्यु-समस्या के पार पहुँचने में देर नहीं होती, परन्तु सब

नियमों के दो-एक व्यतिक्रम भी रहते हैं। गृहस्थधर्म ठीक ठीक पालन करते हुए भी दो-एक पुरुषों को मुक्त होते देखा गया है; ऐसे हमारे यहाँ नागमहाशय हैं।

शिष्य—महाराज, उपनिषदादि ग्रन्थों में भी वैराग्य और संन्यास सम्बन्धी विशद उपदेश नहीं पाया जाता।

स्वामीजी—पागल के समान क्या बकता है? वैराग्य ही तो उपनिषद् का प्राण है। विचारजनित प्रज्ञा को प्राप्त करना ही उपनिषद् ज्ञान का चरम लक्ष्य है। परन्तु मेरा विश्वास यह है कि भगवान बुद्धदेव के समय से ही भारतवर्ष में इस त्यागव्रत का विशेष प्रचार हुआ है और वैराग्य तथा संसारवितृष्णा ही धर्म का चरम लक्ष्य माना गया है। बौद्ध धर्म के इस त्याग तथा वैराग्य को हिन्दू धर्म ने अपने में लय कर लिया है। भगवान बुद्ध के समान त्यागी महापुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं जन्मा।

शिष्य—तो क्या महाराज, बुद्धदेव के जन्म के पहले इस देश में त्याग और वैराग्य कम था और क्या उस समय संन्यासी नहीं होते थे?

स्वामीजी—यह कौन कहता है? संन्यासाश्रम था, परन्तु जनसाधारण को विदित नहीं था कि यही जीवन का चरम लक्ष्य है। वैराग्य पर उनकी दृढ़ता नहीं थी, विवेक पर निष्ठा नहीं थी। इसी कारण बुद्धदेव को कितने योगियों और साधुओं के पास जाने पर भी कहीं शान्ति नहीं मिली; तब 'इहासने शुष्यतु मे शरीरम्' कहकर आत्मज्ञान लाभ करने को वे स्वयं ही बैठ गये और प्रबुद्ध होकर उठे। भारतवर्ष में संन्यासियों के जो मठ आदि देखते हो, वे सब बौद्ध धर्म के अधिकार में थे। अब हिन्दुओं ने उनको अपने रंग में रंगकर अपना कर लिया है। भगवान बुद्धदेव

से ही यथार्थ संन्यासाश्रम का सूत्रपात हुआ है। वे ही संन्यासाश्रम के मृत ढांचे में प्राण का संचार कर गये हैं।

इस पर स्वामीजी के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने कहा, "बुद्धदेव से पहले भी भारत में चारों आश्रमों के प्रचलित होने का प्रमाण संहिता-पुराणादि देते हैं।" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "मन्वादि संहिता, बहुत से पुराण और महाभारत के भी बहुत से अंश आधुनिक शास्त्र हैं। भगवान बुद्ध इनसे बहुत पहले हुए हैं।"

रामकृष्णानन्द—यदि ऐसा ही होता तो बौद्ध धर्म की समालोचना वेद, उपनिषद, संहिता और पुराणों में अवश्य होती। जब इन ग्रन्थों में बौद्ध धर्म की आलोचना नहीं पायी जाती, तब आप कैसे कहते हैं कि बुद्धदेव इन सभी से पूर्व थे? दो-चार प्राचीन-पुराणादि में बौद्धमत का वर्णन आंशिक रूप में है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुओं के संहिता और पुराणादि आधुनिक शास्त्र हैं।

स्वामीजी—इतिहास पढ़ो तो देखोगे कि हिन्दू धर्म बुद्धदेव के सब भावों को पचाकर इतना बड़ा हो गया है।

रामकृष्णानन्द—मेरा अनुमान यह है कि बुद्धदेव त्यागवैराग्य को अपने जीवन में ठीक ठीक अनुष्ठान करके हिन्दू धर्म के कुल भावों को केवल सजीव कर गये हैं।

स्वामीजी—परन्तु यह कथन प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि बुद्धदेव से पहले का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। इतिहास का ही प्रमाण मानने से यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि प्राचीन काल के घोर अन्धकार में एकमात्र भगवान बुद्धदेव ने ही ज्ञानालोक से प्रदीप्त होकर अवस्थान किया है।

अब फिर संन्यासधर्म सम्बधी प्रसंग होने लगा। स्वामीजी

बोले, "संन्यास की उत्पत्ति कहीं से ही क्यों न हो, इस त्यागव्रत के आश्रय से ब्रह्मज्ञ होना ही मनुष्यजीवन का उद्देश्य है। इस संन्यासग्रहण में ही परमपुरुषार्थ है। वैराग्य उत्पन्न होने पर जिनका संसार से अनुराग हट गया है वे ही धन्य हैं।"

शिष्य—महाराज, आजकल लोग कहते हैं कि त्यागी संन्यासियों की संख्या बढ़ जाने से देश की व्यावहारिक उन्नति रुक रही है। साधुओं को गृहस्थों के मुखापेक्षी और निष्कर्मी होकर चारों ओर फिरते देखकर वे लोग कहते हैं, 'वे (संन्यासीगण) समाज और स्वदेश की उन्नति के लिए किसी प्रकार के सहायक नहीं होते।'

स्वामीजी—मुझे यह तो पहले समझा दो कि लौकिक या व्यावहारिक उन्नति का अर्थ क्या है।

शिष्य—पाश्चात्य देशों में जिस प्रकार विद्या की सहायता से देश में अन्नवस्त्र का प्रबन्ध करते हैं, विज्ञान की सहायता से वाणिज्य, शिल्प, वस्त्रादिक, रेल, टेलीग्राफ (तार) इत्यादि नाना विषयों की उन्नति कर रहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी करना।

स्वामीजी—क्या ये सब बातें मनुष्य में रजोगुण के अभ्युदय हुए बिना ही होती हैं? सारे भारतवर्ष में फिरकर देखा, पर कहीं भी रजोगुण का विकास नहीं पाया, केवल तमोगुण! घोर तमोगुण से सर्वसाधारण लोग भरे हुए हैं। संन्यासियों में ही रजोगुण एवं सतोगुण देखा है। वे ही भारत के मेरुदण्ड हैं। सच्चे संन्यासी ही गृहस्थों के उपदेशक हैं। उन्हींसे उपदेश और ज्ञानालोक प्राप्त कर प्राचीन काल में गृहस्थ लोग जीवनसंग्राम में सफल हुए हैं। संन्यासियों के अनमोल उपदेश के बदले में गृहस्थ उनको अन्नवस्त्र देते रहे हैं। यदि ऐसा आदान-प्रदान न होता, तो इतने दिनों में भारतवासियों का भी अमरीका के आदिवासियों

के समान लोप हो जाता । संन्यासियों को मुट्ठी भर अन्न देने के कारण ही गृहस्थ लोग अभी तक उन्नति के मार्ग पर चले जा रहे हैं । संन्यासी लोग कर्महीन नहीं हैं वरन् वे ही कर्म के स्रोत हैं । उनके जीवन या कार्य में ऊँचे आदर्शों को परिणत होते देख और उनसे उच्च भावों को ग्रहण कर गृहस्थ लोग इस संसार के जीवनसंग्राम में समर्थ हुए तथा हो रहे हैं । पवित्र संन्यासियों को देखकर गृहस्थ भी उन पवित्र भावों को अपने जीवन में परिणत करते हैं और ठीक ठीक कर्म करने को तत्पर होते हैं । संन्यासी अपने जीवन में ईश्वर तथा जगत् के कल्याण के निमित्त सर्वत्याग रूप तत्त्व को प्रतिफलित करके गृहस्थों को सब विषयों में उत्साहित करते हैं और इसके बदले में वे उनसे मुट्ठी भर अन्न लेते हैं । फिर उसी अन्न को उपजाने की प्रवृत्ति और शक्ति भी देश के लोगों में सर्वत्यागी संन्यासियों के स्नेहाशीर्वाद से ही बढ़ रही है । बिना विचारे ही लोग संन्यास-संस्था की निन्दा करते हैं । अन्यान्य देशों में चाहे जो कुछ क्यों न हो, पर यहाँ तो संन्यासियों के पतवार के कारण ही संसार-सागर में गृहस्थों की नौका नहीं डूबने पाती ।

शिष्य—महाराज, लोककल्याण में तत्पर यथार्थ संन्यासी मिलता कहाँ है ?

स्वामीजी—यदि हजार वर्ष में भी श्रीगुरुदेव के समान कोई संन्यासी महापुरुष जन्म ले लेते हैं, तो सब कमी पूरी हो जाती है । वे जो उच्च आदर्श और भावों को छोड़ जाते हैं, उनके जन्म से सहस्र वर्ष तक लोग उनको ही ग्रहण करते रहेंगे । इस संन्यास पद्धति के इस देश में होने के कारण ही यहाँ उनके समान महापुरुष जन्म ग्रहण करते हैं । दोष सभी आश्रमों में हैं पर किसी में

कम और किसी में अधिक। दोष रहने पर भी यह आश्रम अन्य आश्रमों के शीर्षस्थान के अधिकार को प्राप्त हुआ है, इसका कारण क्या है? सच्चे संन्यासी तो अपनी मुक्ति की भी उपेक्षा करते हैं—जगत् के मंगल के लिए ही उनका जन्म होता है। यदि ऐसे संन्यासाश्रम के भी तुम कृतज्ञ न हो, तो तुम्हें धिक्कार, कोटि कोटि धिक्कार है।

इन बातों को कहते ही स्वामीजी का मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा। संन्यास-आश्रम के गौरव-प्रसंग से स्वामीजी मानो मूर्तिमान संन्यास रूप में शिष्य के सम्मुख प्रतिभासित होने लगे। इस आश्रम के गौरव को अपने मन में अनुभव कर मानो अन्तर्मुखी होकर अपने आप ही मधुर स्वर से आवृत्ति करने लगे—

"वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तः
भिक्षान्नमात्रेण च तुष्टिमन्तः।
अशोकमन्तःकरणे चरन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः॥"

फिर कहने लगे, "'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' ही संन्यासियों का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके जो इस ऊँचे लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाता है उसका तो जीवन ही व्यर्थ है—'वृथैव तस्य जीवनम्।' जगत् में संन्यासी क्यों जन्म लेते हैं? औरों के निमित्त अपना जीवन दान करने को, जीव के आकाशभेदी क्रन्दन को दूर करने को, विधवा के आँसू पोंछने को, पुत्रवियोग से पीड़ित अबलाओं के मन को शान्ति देने को, सर्वसाधारण को जीवनसंग्राम में सक्षम करने को, शास्त्र के उपदेशों को फैलाकर सब का ऐहिक और पारमार्थिक मंगल करने को और ज्ञानालोक से सब के भीतर जो ब्रह्मसिंह सुप्त है, उसे जागृत करने को।"

फिर अपने भाइयों को लक्ष्य करके कहने लगे, " 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' हम लोगों का जन्म हुआ है। बैठे बैठे क्या कर रहे हो ? उठो, जाग जाओ, चौकन्ने होकर औरों को चेताओ। अपने नरजन्म को सफल करो, 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान् निबोधत।' "

परिच्छेद १२

स्थान—कलकत्ता, स्व० बलराम बसु का भवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—गुरु गोविन्दसिंहजी शिष्यों को किस प्रकार की दीक्षा देते थे—उस समय पंजाब के सर्वसाधारण के मन में उन्होंने एक ही प्रकार की प्रेरणा को जगाया था—सिद्धाई लाभ करने की अपकारिता—स्वामीजी के जीवन में परिदृष्ट दो अद्‌भुत घटनाएँ—शिष्य को उपदेश—भूत-प्रेत के ध्यान से भूत, और 'मैं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त आत्मा हूँ' ऐसा ध्यान सर्वदा करने से ब्रह्मज्ञ बनता है।

स्वामीजी आज दो दिन से बागबाजार में स्व० बलराम बसु के भवन में ठहरे हैं। इसलिए शिष्य को विशेष सुभीता होने से वह प्रतिदिन वहाँ आता जाता रहता है। आज सायंकाल से कुछ पहले स्वामीजी छत पर टहल रहे हैं। उनके साथ शिष्य और अन्य चार-पाँच लोग भी हैं। आज बड़ी गरमी है; स्वामीजी के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं है। मन्द मन्द दक्षिणी वायु चल रही है। टहलते टहलते स्वामीजी ने गुरु गोविन्दसिंह का प्रसंग आरम्भ किया और ओजस्विनी भाषा में कुछ कुछ वर्णन करते हुए बतलाने लगे कि किस प्रकार उनके त्याग, तपस्या, तितिक्षा और प्राणनाशक परिश्रम के फल से ही सिक्खों का पुनरुत्थान हुआ था, उन्होंने किस प्रकार मुसलमान धर्म में दीक्षित लोगों को भी दीक्षा दी और हिन्दू बनाकर सिक्ख जाति में मिला लिया तथा किस प्रकार उन्होंने नर्मदा के तट पर अपनी मानवलीला समाप्त की। गुरु गोविन्दसिंह द्वारा दीक्षित जनों में उस समय

कैसी एक महान् शक्ति का संचार होता था, उसका उल्लेख कर स्वामीजी ने सिक्ख जातियों में प्रचलित एक दोहा सुनाया—

"सवा लाख से एक लड़ाऊँ।
तो गोविन्दसिंह नाम कहाऊँ ॥"

अर्थात् गुरु गोविन्दसिंह से नाम (दीक्षा) सुनकर प्रत्येक मनुष्य में सवा लाख मनुष्य से अधिक शक्ति संचारित होती थी। अर्थात् उनसे दीक्षाग्रहण करने पर उनकी शक्ति से यथार्थ धर्म-प्राणता उपस्थित होती थी और प्रत्येक शिष्य का हृदय ऐसे वीर-भाव से पूरित हो जाता था कि वह उस समय सवा लाख विधर्मियों को पराजित कर सकता था। धर्म की महिमा बखानने वाली बातों को कहते कहते उनके उत्साहपूर्ण नेत्रों से मानो तेज निकल रहा था। श्रोतागण निस्तब्ध होकर स्वामीजी के मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे। स्वामीजी में कैसा अद्भुत उत्साह और शक्ति थी। जब जिस विषय का प्रसंग करते थे, तब उसी में ऐसे तन्मय हो जाते थे कि यह अनुमान होता था मानो उन्होंने उसी विषय को अन्य सब विषयों से बड़ा निश्चित किया है और उसे लाभ करना ही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है।

कुछ देर बाद शिष्य ने कहा, "महाराज, गुरु गोविन्दसिंहजी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपने धर्म में दीक्षित करके एक ही उद्देश्य पर चलाया था, वह बड़ी अद्भुत घटना है। भारत के इतिहास में ऐसा दूसरा दृष्टान्त नहीं पाया जाता।"

स्वामीजी—जब तक लोग अपने में एक ही प्रकार के ध्येय का अनुभव नहीं करेंगे, तब तक कभी एक सूत्र से आबद्ध नहीं हो सकते। जब तक उनका ध्येय एक न हो, तब तक सभा, समिति और वक्तृता से साधारण लोगों को एक नहीं किया जा सकता।

गुरु गोविन्दसिंहजी ने उस समय क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी को समझा दिया था कि वे सब लोग कैसे घोर अत्याचार तथा अविचार के राज्य में बस रहे हैं। गुरु गोविन्दसिंहजी ने किसी प्रकार के नये ध्येय की सृष्टि नहीं की। केवल सर्वसाधारण जनता में इसे समझा ही दिया था। इसीलिए हिन्दू-मुसलमान सब उनको मानते हैं। वे शक्ति के साधक थे। भारत-इतिहास में उनके समान बिरला ही दृष्टान्त मिलेगा।

इसके बाद रात्रि होने पर स्वामीजी सब के साथ नीचे की बैठक में उतर आये। उनके आसन ग्रहण करने पर सब उन्हें फिर घेरकर बैठ गये। अब सिद्धाई के विषय पर प्रसंग आरम्भ हुआ। स्वामीजी बोले, "सिद्धाई या विभूति मन के थोड़े ही संयम से प्राप्त हो जाती है।" शिष्य को लक्ष्य करके बोले, "क्या तू औरों के मन की बात जानने की विद्या सीखेगा? चार पाँच ही दिन में तुझे यह सिखला सकता हूँ।"

शिष्य—इससे क्या उपकार होगा?

स्वामीजी—क्यों? औरों के मन की बात जान सकेगा।

शिष्य—क्या इससे ब्रह्मविद्या लाभ करने में कोई सहायता मिलेगी?

स्वामीजी—कुछ भी नहीं।

शिष्य—तब वह विद्या सीखने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु अपने सिद्धाई के विषय में जो कुछ प्रत्यक्ष किया है या देखा है, उसको सुनने की इच्छा है।

स्वामीजी—एक बार मैं हिमालय में भ्रमण करते समय किसी पहाड़ी गाँव में एक रात्रि के लिए ठहर गया था। सायंकाल होने पर गाँव में ढोल का शब्द सुना तो घरवाले से पूछने पर मालूम

हुआ कि गाँव में किसी मनुष्य पर 'देवता चढ़ा' है। घरवाले के आग्रह से और अपना कौतुक निवारण करने के लिए मैं देखने को गया। जाकर देखा कि बड़ी भीड़ लगी है। उसने लम्बे घूंघर बाल वाले एक पहाड़ी को दिखाकर कहा कि इसी पर देवता चढ़ा है। मैंने देखा कि उसके पास ही एक कुल्हाड़ी को आग में लाल कर रहे थे; फिर देखा कि उस लाल कुल्हाड़ी से उस देवताविष्ट मनुष्य के शरीर को स्थान स्थान पर जला रहे हैं तथा बालों पर भी उसे छुआ रहे हैं। परन्तु आश्चर्य यह था कि न तो उसका कोई अंग या बाल जलता था, न उसके चेहरे से कोई कष्ट का चिह्न प्रकट होता था। मैं तो देखते ही निर्वाक् रह गया। इसी समय गाँव के मुखिया ने मेरे पास आकर हाथ जोड़कर कहा, 'महाराज, आप कृपया इसका भूत उतार दीजिये।' मैं तो यह बात सुनकर घबड़ा गया। पर क्या करता, सब के कहने पर मुझे उस देवताविष्ट मनुष्य के पास जाना पड़ा। परन्तु जाकर उस कुल्हाड़ी की परीक्षा करने की इच्छा हुई। उसमें हाथ लगाते ही मेरा हाथ झुलस गया। तब तो कुल्हाड़ी तनिक काली भी पड़ गयी थी तो भी मारे जलन के मैं बेचैन हो गया। जो कुछ मेरी तर्क युक्ति थी वह सब लोप हो गयी। क्या करूँ, जलन के मारे व्याकुल होकर भी उस मनुष्य के सिर पर अपना हाथ रखकर कुछ देर जप किया। परन्तु आश्चर्य यह कि ऐसा करने से दस-बारह मिनट में ही वह अच्छा हो गया। तब गाँव वालों की मेरे प्रति भक्ति का क्या ठिकाना था! वे तो मुझे भगवान् ही समझने लगे! परन्तु मैं इस घटना को कुछ भी नहीं समझ सका। बाद में भी कुछ नहीं जान सका। अन्त में और कुछ न कहकर घरवाले के साथ झोपड़ी में लौट आया। तब रात के कोई बारह

बजे होंगे। आते ही लेट गया, परन्तु जलन के मारे और इस घटना का कोई भेद न निकाल सकने के कारण नींद नहीं आयी। जलती हुई कुल्हाड़ी से मनुष्य का शरीर दग्ध नहीं हुआ यह सोचकर चिन्ता करने लगा, "There are more things in heaven and earth than dreamt of in your philosophy—" पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनका सन्धान दर्शनशास्त्रों ने स्वप्न में भी नहीं पाया।

शिष्य—बाद में क्या आप इस विषय का रहस्य जान सके थे?

स्वामीजी—नहीं, आज ही बातों बातों में वह घटना स्मरण हो आयी, इसलिए तुझसे कह दिया।

फिर स्वामीजी कहने लगे, "श्रीरामकृष्ण सिद्धाइयों की बड़ी निन्दा किया करते थे। वे कहा करते थे कि इन शक्तियों के प्रकाश की ओर मन लगाये रखने से कोई परमार्थ-तत्त्वों को नहीं पहुँचता; परन्तु मनुष्य का मन ऐसा दुर्बल है कि गृहस्थों का तो कहना ही क्या है, साधुओं में भी चौदह आने लोग सिद्धाई के उपासक होते हैं। पाश्चात्य देशों में लोग इन जादुओं को देखकर निर्वाक् हो जाते हैं। सिद्धाई लाभ करना बुरा है और वह धर्म-पथ में विघ्न डालता है। यह बात श्रीरामकृष्ण के कृपा कर समझाने के कारण ही मैं समझ सका हूँ। इसी हेतु क्या तुमने देखा नहीं कि श्रीगुरुदेव की सन्तानों में से कोई उधर ध्यान नहीं देता?"

इतने में स्वामी योगानन्दजी ने स्वामीजी से कहा, "मद्रास में एक ओझा से जो तुम्हारी भेंट हुई थी वह कहानी इस गँवार को सुनाओ।"

शिष्य ने इस विषय को पहले नहीं सुना था। इसलिए उसे कहने के लिए स्वामीजी से आग्रह करने लगा; तब स्वामीजी ने

उससे कहा, "मद्रास में मैं जब मन्मथ बाबू के भवन में था, तब एक दिन रात में स्वप्न में देखा कि हमारी माताजी का देहान्त हो गया है। मन में बड़ा दुःख हुआ। उस समय मठ को ही बहुत कम पत्र आदि भेजा करता था, तो घर की तो बात दूर रही। स्वप्न की बात मन्मथ बाबू से कहने पर उन्होंने उसकी जाँच करने के लिए कलकत्ते को तार भेजा; क्योंकि स्वप्न देखकर मन बहुत ही घबड़ा रहा था। इधर मद्रास के मित्रगण मेरे अमरीका जाने का सब प्रबन्ध करके जल्दी मचा रहे थे। परन्तु माताजी की कुशल क्षेम का संवाद न मिलने से मेरा मन जाने को नहीं चाहता था। मेरे मन की अवस्था देखकर मन्मथ बाबू मुझसे बोले, 'देखो, नगर से कुछ दूर पर एक पिशाच-सिद्ध मनुष्य है, वह जीव के भूत-भविष्यत्, शुभ-अशुभ सब संवाद बतला सकता है।' मन्मथ बाबू की प्रार्थना से और अपने मानसिक उद्वेग को दूर करने के निमित्त मैं उसके पास जाने को राजी हुआ। मन्मथ बाबू, मैं, आलासिंगा तथा एक और सज्जन कुछ दूर तक रेल से गये; फिर पैदल चलकर वहाँ पहुँचे। पहुँचकर क्या देखा कि श्मशान के पास विकट आकार का मृतक-सा, सूखा, बहुत काले रंग का एक मनुष्य बैठा है। उसके अनुचरगण ने 'किड़ीं-मिड़ीं' कर मद्रासी भाषा में समझा दिया कि वही पिशाच सिद्ध पुरुष है। प्रथम तो उसने हम लोगों पर कोई ध्यान नहीं दिया। फिर जब हम लौटने को हुए, तब हम लोगों से ठहरने के लिए विनय की। हमारे साथी आलासिंगा ने ही उसकी भाषा हमें, तथा हमारी भाषा उसे समझाने का कार्य किया। उसने ही हम लोगों से ठहरने को कहा। फिर एक पेंसिल लेकर वह पिशाच-सिद्ध मनुष्य कुछ समय तक न जाने क्या लिखता रहा। फिर देखा कि

वह मन को एकाग्र करके बिलकुल स्थिर हो गया, उसके बाद मेरा नाम, गोत्र इत्यादि चौदह पीढ़ी तक की बातें बतलायीं और कहा कि श्रीरामकृष्ण मेरे साथ सर्वदा फिर रहे हैं। माताजी का मंगल समाचार भी बतलाया। और यह भी कहा कि धर्मप्रचार के लिए मुझे शीघ्र ही बहुत दूर जाना पड़ेगा। इस प्रकार माताजी का कुशल मंगल मिल जाने पर मन्मथ बाबू के साथ शहर लौटा। यहाँ पहुँचकर कलकत्ते से तार के जवाब में भी माताजी का कुशल मंगल मिल गया।

स्वामी योगानन्द को लक्ष्य करके स्वामीजी बोले, "परन्तु उस पुरुष ने जो कुछ बतलाया था वह सब पूरा हुआ। यह 'काकतालीय' के समान ही हो या और किसी प्रकार से हो गया हो।"

इसके उत्तर में स्वामी योगानन्द बोले, "तुम पहले इन सब बातों पर विश्वास नहीं करते थे, इसीलिए तुम्हें यह सब दिखलाने की आवश्यकता उत्पन्न हुई थी।"

स्वामीजी—मैं क्या बिना देखे-भाले किसी पर विश्वास करता? मैं तो ऐसा मनुष्य ही नहीं हूँ। महामाया के राज्य में आकर जगत्‌रूपी जादू के साथ साथ और कितने ही जादू देखने में आये। माया! माया!! अब राम कहो, राम कहो! आज कैसी फजूल बातें हुईं। भूत प्रेत की चिन्ता करने से लोग भूत प्रेत ही बन जाते हैं, और जो रात-दिन जानकर या न जानकर भी कहते हैं, 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ' वे ही ब्रह्मज्ञ होते हैं।

यह कहकर स्वामीजी शिष्य को स्नेह से लक्ष्य करके बोले, "इन सब व्यर्थ की बातों को मन में तिल मात्र भी स्थान न दो। सदैव सत् और असत् का ही विचार करो; आत्मा को प्रत्यक्ष

करने के निमित्त प्राणपण से यत्न करो। आत्मज्ञान से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। और जो कुछ है वह सभी माया है--जादू है। एक प्रत्यगात्मा ही अबाधित सत्य है। इस बात की यथार्थता मैं ठीक ठीक समझ गया हूँ, इसीलिए तुम सब को समझाने की चेष्टा भी करता हूँ। 'एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।' "

बात करते करते रात के ग्यारह बज गये। इसके बाद स्वामीजी भोजन कर विश्राम करने चले। शिष्य भी स्वामीजी के चरण-कमलों में दण्डवत् कर बिदा हुआ। स्वामीजी ने पूछा, "कल फिर आयगा न ?"

शिष्य--जी महाराज, अवश्य आऊँगा। प्रतिदिन आपके दर्शन न होने से चित्त व्याकुल हो जाता है।

स्वामीजी--अच्छा तो जाओ। रात अधिक हो गयी है।

शिष्य स्वामीजी की बातों पर विचार करता हुआ रात के बारह बजे घर लौटा।

परिच्छेद १३

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—मठ में श्रीरामकृष्णदेव की जन्मतिथिपूजा—ब्राह्मणजाति के अतिरिक्त अन्यान्य जाति के भक्तों को स्वामीजी का यज्ञोपवीत धारण कराना—मठ में श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष का समादर—कर्मयोग या परार्थ में कर्मानुष्ठान करने से आत्मदर्शन निश्चित है, इस सिद्धान्त को युक्ति-विचार द्वारा स्वामीजी का समझाना।

जिस वर्ष स्वामीजी इंग्लैण्ड से लौटे थे उस वर्ष दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के कालीमन्दिर में श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव हुआ था। परन्तु अनेक कारणों से अगले वर्ष यह उत्सव वहाँ नहीं होने पाया और मठ को भी आलम बाजार से बेलुड़ में गंगाजी के तट पर श्रीयुत नीलाम्बर मुखोपाध्याय की वाटिका को किराये पर लेकर, वहाँ हटाया गया। इसके कुछ ही दिन पश्चात् वर्तमान मठ के निमित्त जमीन मोल ली गयी, किन्तु इस वर्ष यहाँ जन्मोत्सव नहीं हो सका, क्योंकि यह स्थान समतल नहीं था और जंगल से भी भरा था। इसलिए इस वर्ष का जन्मोत्सव बेलुड़ में दाँ बाबुओं की ठाकुरबाड़ी में हुआ। परन्तु श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथिपूजा जो फाल्गुन की शुक्ल द्वितीया को होती है, वह नीलाम्बर बाबू की वाटिका में ही हुई और इसके दो-एक दिन बाद ही श्रीरामकृष्ण की मूर्ति इत्यादि का प्रबन्ध करके शुभमुहूर्त में नयी भूमि पर पूजा-हवन इत्यादि कर श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा की गयी। इस समय स्वामीजी नीलाम्बर बाबू की वाटिका में

ठहरे हुए थे। जन्मतिथिपूजा के निमित्त बड़ा आयोजन था। स्वामीजी के आदेशानुसार पूजागृह बड़ी उत्तम-उत्तम सामग्रियों से परिपूर्ण था। स्वामीजी उस दिन स्वयं ही सब चीजों की देखभाल कर रहे थे।

जन्मतिथि के दिन प्रातःकाल से ही सब लोग आनन्दित हो रहे थे। भक्तों के मुँह में श्रीरामकृष्ण-प्रसंग के अतिरिक्त और कोई भी प्रसंग नहीं था। अब स्वामीजी पूजाघर के सम्मुख खड़े होकर पूजा का आयोजन देखने लगे।

इन सब की देखभाल करने के पश्चात् स्वामीजी ने शिष्य से पूछा, "जनेऊ ले आये हो न?"

शिष्य--जी हाँ, आपके आदेशानुसार सब सामग्री प्रस्तुत है। परन्तु इतने जनेऊ मँगवाने का कारण मेरी समझ में नहीं आया।

स्वामीजी---प्रत्येक द्विजाति का ही उपनयन-संस्कार में अधिकार है। स्वयं वेद इसका प्रमाण है। आज श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि में जो लोग यहाँ आयेंगे, मैं उन सब को जनेऊ पहिनाऊँगा। वे सब व्रात्य (संस्कार से पतित) हो गये हैं। शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित्त करने से व्रात्यों का फिर उपनयन-संस्कार में अधिकार हो जाता है। आज श्रीगुरुदेव का शुभ जन्मतिथिपूजन है---उनके नाम से वे सब शुद्ध, पवित्र हो जायेंगे। इसलिए आज उन उपस्थित भक्तगणों को जनेऊ पहिनाना है। समझे?

शिष्य---मैं आपके आदेश से बहुत से जनेऊ लाया भी हूँ। पूजा के अन्त में समागत भक्तों को आपकी आज्ञानुसार पहिना दूँगा।

स्वामीजी---ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य भक्तों को इस प्रकार गायत्री मन्त्र बतला देना। (यहाँ स्वामीजी ने शिष्य को क्षत्रिय आदि द्विजातियों का गायत्री मन्त्र बतला दिया।) क्रमशः देश के

सब लोगों को ब्राह्मण-पद पर आरूढ़ कराना होगा; श्रीगुरुदेव के भक्तों का तो कहना ही क्या है? हिन्दुमात्र एक दूसरे के भाई हैं। 'इसे नहीं छूते, उसे नहीं छूते' कहकर ही तो हमने इनको ऐसा बना दिया है। इसीलिए तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्था को प्राप्त हुआ है। इनको उठाना होगा, उन्हें अभय वाणी सुनानी होगी, बतलाना होगा कि तुम भी हमारे समान मनुष्य हो, तुम्हारा भी हमारे ही समान सब अधिकार है। समझे?

शिष्य—जी महाराज।

स्वामीजी—अब जो लोग जनेऊ पहिनेंगे, उनसे कह दो कि वे गंगाजी में स्नान कर आयें। फिर श्रीरामकृष्ण को प्रणाम कर वे जनेऊ पहिनेंगे।

स्वामीजी के आदेशानुसार समागत भक्तों में से कोई चालीस-पचास लोगों ने गंगास्नान कर शिष्य से गायत्री मन्त्र सीख कर जनेऊ पहिन लिये। मठ में बड़ी चहल-पहल मच गयी। भक्तगणों ने जनेऊ धारण कर श्रीरामकृष्ण को पुनः प्रणाम किया और स्वामीजी के चरणकमलों की भी वन्दना की। स्वामीजी का मुखारविन्द उनको देखकर मानो सौगुना प्रफुल्लित हो गया। इसके कुछ ही देर पश्चात् श्रीयुत गिरीशचन्द्र घोष मठ में आ पहुँचे।

अब स्वामीजी की आज्ञा से संगीत का आयोजन होने लगा और मठ के संन्यासी लोग स्वामीजी को अपनी इच्छानुसार सजाने लगे। उनके कानों में शंख का कुण्डल, सर्वांग में कर्पूर के समान श्वेत पवित्र विभूति, मस्तक पर आपादलम्बित जटाभार, वाम हस्त में त्रिशूल, दोनों बाँहों में रुद्राक्ष की माला और गले में आजानुलम्बित तीन लड़ की बड़े रुद्राक्ष की माला आदि पहिनायीं।

यह सब धारण करने पर स्वामीजी का रूप ऐसा शोभायमान हुआ कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। उस दिन जिन लोगों ने उनकी इस मूर्ति का दर्शन किया था, उन्होंने एक स्वर से कहा था कि साक्षात् कालभैरव स्वामीजी के शरीर में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। स्वामीजी ने भी अन्य सब संन्यासियों के शरीर में विभूति लगा दी। उन्होंने स्वामीजी के चारों ओर सदेह भैरवगण के समान अवस्थान कर, मठभूमि पर कैलाश पर्वत की शोभा का विस्तार कर दिया! आज भी उस दृश्य का स्मरण हो आने से बड़ा आनन्द होता है।

अब स्वामीजी पश्चिम दिशा की ओर मुँह फेरे हुए मुक्त-पद्मासन में बैठ कर "कूजन्तं रामरामेति" स्तोत्र धीरे धीरे उच्चारण करने लगे और अन्त में "राम राम श्रीराम राम" बारम्बार कहने लगे। ऐसा अनुमान होता था कि मानो प्रत्येक अक्षर से अमृतधारा बह रही है। स्वामीजी के नेत्र अर्धनिमीलित थे और वे हाथ से तानपूरे में स्वर दे रहे थे। कुछ देर तक मठ में 'राम राम श्रीराम राम' ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी सुनने में नहीं आया। इस प्रकार से लगभग आध घन्टे से भी अधिक समय व्यतीत हो गया, तब भी किसी के मुँह से अन्य कोई शब्द नहीं निकला। स्वामीजी के कण्ठ-निःसृत रामनामसुधा को पान कर आज सब मतवाले हो गये हैं। शिष्य विचार करने लगा, क्या सचमुच ही स्वामीजी शिवजी के भाव से मतवाले होकर रामनाम ले रहे हैं? स्वामीजी के मुख का स्वाभाविक गाम्भीर्य मानो आज सौगुना हो गया है। अर्धनिमीलित नेत्रों से मानो बाल-सूर्य की प्रभा निकल रही है और गहरे नशे में मानो उनका सुन्दर शरीर झूम रहा है। इस रूप का वर्णन करना

अथवा किसी को समझाना सम्भव नहीं। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। दर्शकगण चित्र के समान स्थिर बैठे रहे।

रामनाम कीर्तन के अन्त में स्वामीजी उसी प्रकार मतवाली अवस्था में ही गाने लगे—"सीतापति रामचन्द्र रघुपति रघुराई।" साथ देने वाला अच्छा न होने के कारण स्वामीजी का कुछ रस भंग होने लगा। अतः स्वामी सारदानन्दजी को गाने का आदेश कर स्वामीजी स्वयं पखावज बजाने लगे। स्वामी सारदानन्दजी ने पहले—"एक रूप अरूप नाम वरण" गीत गाया। पखावज के स्निग्ध गम्भीर घोष से गंगाजी मानो उथलने लगी और स्वामी सारदानन्दजी के सुन्दर कण्ठ और साथ ही मधुर आलाप से सारा गृह भर गया। तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण स्वयं जिन गीतों को गाते थे क्रमशः वे गीत भी होने लगे।

अब स्वामीजी एकाएक अपनी वेश-भूषा को उतार कर बड़े आदर से गिरीश बाबू को उससे सजाने लगे। गिरीश बाबू के विशाल शरीर में अपने हाथ से भस्म लगाकर, कानों में कुण्डल, मस्तक पर जटाभार, कण्ठ और बाँहों में रुद्राक्ष की माला पहनाने लगे। गिरीश बाबू इस वेश में मानो एक नवीन मूर्ति जैसे प्रकाशमान हुए। भक्तगण इसको देखकर अवाक् हो गये। फिर स्वामीजी बोले, "श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि गिरीश भैरव का अवतार है और हममें-उसमें कोई भेद नहीं है।" गिरीश बाबू चुप बैठे रहे। उनके संन्यासी गुरुभाई जैसे चाहें उनको सजायें, उन्हें सब स्वीकार है। अन्त में स्वामीजी के आदेशानुसार एक गेरुआ वस्त्र मँगवाकर गिरीश बाबू को पहिनाया गया। गिरीश बाबू ने कुछ भी मना नहीं किया। गुरुभाइयों की इच्छानुसार अपने शरीर को उन्हीं के हाथ में छोड़ दिया। अब स्वामीजी ने

कहा, "जी० सी०, तुमको आज श्रीगुरुदेव की कथा सुनानी होगी।" औरों को लक्ष्य करके कहा, "तुम लोग सब स्थिर होकर बैठो।" अभी तक गिरीश बाबू के मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। जिनके जन्मोत्सव में आज हम सब लोग एकत्रित हुए हैं, उनकी लीला और सांगोपांगों का दर्शन कर वे आनन्द से जड़वत् हो गये हैं। अन्त में गिरीश बाबू बोले, "दयामय श्रीगुरुदेव की कथा में और क्या कहूँ? उन्होंने इस अधम को तुम्हारे समान कामकांचन-त्यागी बाल संन्यासियों के साथ एक ही आसन पर बैठने का जो अधिकार दिया है, इससे ही उनकी अपार करुणा का अनुभव कर रहा हूँ।" इन बातों को कहते कहते उनका गला भर आया और फिर उस दिन वे कुछ भी न कह सके। इसके बाद स्वामीजी ने कई एक हिन्दी गीत गाये, "बैयाँ न पकरो मोरी नरम कलैयाँ", "प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो" इत्यादि। शिष्य संगीत विद्या में ऐसा पूर्ण पण्डित था कि गीत का एक वर्ण भी उसकी समझ में नहीं आया! केवल स्वामीजी के मुँह की ओर टकटकी लगाकर देखता ही रहा! अब प्रथम-पूजा सम्पन्न होने पर जलपान के निमित्त भक्तगण बुलाये गये। जलपान के पश्चात् स्वामीजी नीचे की बैठक में जाकर बैठे। आये हुए भक्तगण भी उनको वहाँ घेरकर बैठ गये। उपवीतधारी किसी गृहस्थ को सम्बोधन कर स्वामीजी बोले, "तुम यथार्थ में द्विजाति हो, बहुत दिनों से व्रात्य हो गये थे। आज से फिर द्विजाति बने। अब प्रतिदिन कम से कम सौ बार गायत्री मन्त्र जपना। समझे?" गृहस्थ ने, "जैसी आज्ञा महाराज की" कहकर स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। इस अवसर पर श्रीयुत महेन्द्रनाथ गुप्त* आ पहुँचे।

* इन्होंने ही "श्रीरामकृष्णकथामृत" लिखी है। किसी स्कूल के अध्यापक

स्वामीजी मास्टर महाशय को देख बड़े स्नेह से उनका सत्कार करने लगे। महेन्द्र बाबू भी उनको प्रणाम कर एक कोने में जाकर खड़े रहे। स्वामीजी के बार बार कहने पर भी संकोच से वहीं बैठ गये।

स्वामीजी—मास्टर महाशय, आज श्रीरामकृष्ण का जन्मदिन है, आपको उनकी कथा हम लोगों को सुनानी होगी।

मास्टर महाशय मुसकराकर सिर झुकाये ही रहे। इस बीच में स्वामी अखण्डानन्दजी † मुर्शिदाबाद से लगभग डेढ़ मन के दो पन्तुआ (एक प्रकार की बंगाली मिठाई) बनवाकर साथ लेकर मठ में आ पहुँचे। इतने बड़े दो पन्तुओं को देखने सब दौड़े। अखण्डानन्दजी ने वह मिठाई सब को दिखलायी। फिर स्वामीजी ने कहा, 'जाओ, इसे श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में रख आओ।'

स्वामी अखण्डानन्दजी को लक्ष्य करके स्वामीजी शिष्य से कहने लगे, "देखो कैसा कर्मवीर है। भय, मृत्यु आदि का कुछ ज्ञान ही नहीं। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपना कार्य धीरज के साथ और एक-चित्त से कर रहा है।"

शिष्य—अधिक तपस्या के फल से ऐसी शक्ति उनमें आयी होगी।

स्वामीजी—तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, यह सत्य है। किन्तु दूसरों के निमित्त कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या से परहित की

होने के कारण ये मास्टर महाशय के नाम से विख्यात हैं।

† श्रीरामकृष्ण के एक अन्तरंग लीलासहचर। इन्होंने मुर्शिदाबाद के अन्तर्गत सारगाछी में अनाथाश्रम, शिल्पविद्यालय और दातव्य चिकित्सालय स्थापित किये हैं। यहाँ बिना जात-पात के विचार से सब की सेवा की जाती है और उनका कुल व्यय उदार सज्जनों की सहायता पर निर्भर है।

इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य करते करते तपस्या का फल चित्तशुद्धि या परमात्मा का दर्शन प्राप्त होता है।

शिष्य—परन्तु महाराज, दूसरों के निमित्त पहिले से ही प्राणपण से कार्य कितने मनुष्य कर सकते हैं ? जिस उदारता से मनुष्य आत्मसुख की इच्छा को बलि देकर औरों के निमित्त जीवनदान करता है वह उदारता मन में पहले से ही कैसे आयेगी ?

स्वामीजी—और तपस्या करने में ही कितने मनुष्यों का मन लगता है ? कामिनीकांचन के आकर्षण के कारण कितने मनुष्य भगवान लाभ करने की इच्छा करते हैं ? तपस्या जैसी कठिन है निष्काम कर्म भी वैसा ही कठिन है। अतएव औरों के मंगल के लिए जो लोग कार्य करते हैं उनके विरुद्ध तुझे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। यदि तुझे तपस्या अच्छी लगे तो किये जा। परन्तु यदि किसी को कर्म ही अच्छा लगे तो उसे रोकने का तुझे क्या अधिकार है ? तू क्या यही अनुमान किये बैठा है कि कर्म तपस्या नहीं है ?

शिष्य—जी महाराज। पहिले मैं तपस्या का अर्थ और कुछ समझता था।

स्वामीजी—जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उस पर दृढ़ता हो जाती है वैसे ही पहिले अनिच्छा के साथ करते करते क्रमशः हृदय उसी में मग्न हो जाता है और परार्थ कार्य करने की प्रवृत्ति होती है, समझे ? तुम एक बार अनिच्छा के साथ ही औरों की सेवा करके देखो, और फिर देखो कि तुम तपस्या के फल को प्राप्त होते है या नहीं। परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन सीधा हो जाता है और वह मनुष्य निष्कपटता से औरों के

मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।

शिष्य---परन्तु महाराज, परहित का प्रयोजन क्या है?

स्वामीजी---अपने ही हित के निमित्त। तुमने इस शरीर पर ही अपना 'अहं' का अभिमान रख छोड़ा है। यदि तुम यह सोचो कि तुमने इस शरीर को दूसरों के निमित्त उत्सर्ग कर दिया है तो तुम इस अहंभाव को भी भूल जाओगे और अन्त में विदेह बुद्धि आ पहुँचेगी। एकाग्र चित्त से औरों के लिए जितना सोचोगे उतना ही अपने अहंभाव को भूलोगे। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमशः चित्तशुद्धि हो जायगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों तथा घटों में विराजमान है। औरों का हित करना आत्मविकास का एक उपाय है---एक पथ है। इसे भी एक प्रकार की ईश्वर-साधना जानना। इसका भी उद्देश आत्मविकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसा आत्मविकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसा ही होता है।

शिष्य---किन्तु महाराज, यदि मैं रात दिन औरों की चिन्ता में लगा रहूँ तो आत्मचिन्तन कब करूँगा? किसी एक विशेष भाव को पकड़े रहने से भावातीत अविषय आत्मा का साक्षात्कार कैसे होगा?

स्वामीजी---आत्मज्ञान का लाभ करना ही समस्त साधनाओं का, सारे पथों का मुख्य उद्देश्य है। यदि तुम सेवापरायण बनो तो उस कर्मफल से तुम्हें चित्तशुद्धि प्राप्त होगी। यदि सब जीवों को आत्मवत् देखो तो आत्मदर्शन होने में क्या शेष रह गया? आत्म-दर्शन का अर्थ जड़ के समान एक दीवाल या लकड़ी के समान पड़ा रहना तो नहीं है।

शिष्य---माना ऐसा नहीं है, परन्तु शास्त्र में सर्व वृत्ति और सर्व

कर्म के निरोध को ही तो आत्मा का स्व-स्वरूप अवस्थान कहा है।

स्वामीजी—शास्त्र में जिस अवस्था को समाधि कहा गया है, वह अवस्था तो सहज में हर एक को प्राप्त नहीं होती, और किसी को हुई भी तो अधिक समय तक टिकती नहीं है। तब बताओ वह किस प्रकार समय बितायेगा? इसलिए शास्त्रोक्त अवस्था लाभ करने के बाद साधक प्रत्येक भूत में आत्मदर्शन कर अभिन्न ज्ञान से सेवापरायण बनकर अपने प्रारब्ध को नष्ट कर देते हैं। इस अवस्था को शास्त्रकार जीवन्मुक्त अवस्था कह गये हैं।

शिष्य—महाराज, इससे तो यही सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त न करने से कोई भी ठीक ठीक परार्थ कार्य नहीं कर सकता।

स्वामीजी—शास्त्र में यह बात है। फिर यह भी है कि परार्थ-सेवापरायण होते-होते साधक को जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त होती है। नहीं तो शास्त्र में "कर्मयोग" के नाम से एक भिन्न पथ के उपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था।

शिष्य यह सब बातें समझकर अब चुप हो गया। स्वामीजी ने भी इस प्रसंग को छोड़कर अपने सुन्दर कण्ठ से एक गीत गाना आरम्भ किया।

गिरीश बाबू तथा अन्य भक्तगण भी उनके साथ उसी गीत को गाने लगे। "जगत् को तापित लख कातर हो" इत्यादि पद को बार बार गाने लगे। इस प्रकार "मजलो आमार मनभ्रमरा, कालीपद नीलकमले" "अगणन भुवनभारधारी" इत्यादि कई एक गीत गाने के पश्चात् तिथिपूजन के नियमानुसार एक जीती हुई मछली को खूब गा बजाकर गंगाजी में छोड़ दिया गया; तत्पश्चात् प्रसाद पाने के लिए भक्तों में बड़ी धूम मच गयी।

परिच्छेद १४

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—नये मठ की भूमि पर श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा—आचार्य शंकर की अनुदारता—बौद्ध धर्म का पतन, कारण-निर्देश—तीर्थमाहात्म्य—'रथे तु वामनं दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक का अर्थ—भावाभाव के अतीत ईश्वरस्वरूप की उपासना।

आज स्वामीजी नये मठ की भूमि पर यज्ञ करके श्रीरामकृष्ण की प्रतिष्ठा करेंगे। प्रतिष्ठा दर्शन करने की इच्छा से शिष्य पिछली रात से ही मठ में उपस्थित है।

प्रात:काल गंगास्नान कर स्वामीजी ने पूजाघर में प्रवेश किया। फिर पूजन के आसन पर बैठकर पुष्पपात्र में जो कुछ फूल और बिल्वपत्र थे, दोनों हाथ में सब एक साथ उठा लिये और श्रीरामकृष्णदेव की पादुकाओं पर अर्पित कर ध्यानस्थ हो गये—कैसा अपूर्व दर्शन था! उनकी धर्मप्रभा-विभासित स्निग्धोज्ज्वल-कान्ति से पूजागृह मानो एक अद्‌भुत ज्योति से पूर्ण हो गया! स्वामी प्रेमानन्द तथा अन्य स्वामीगण पूजागृह के द्वार पर ही खड़े रहे।

ध्यान तथा पूजा समाप्त होने के बाद नये मठ की भूमि में जाने का आयोजन होने लगा। ताँबे के जिस डिब्बे में श्रीरामकृष्णदेव की भस्मास्थि रक्षित थी, स्वामीजी स्वयं उसको अपने कन्धे पर रखकर आगे चलने लगे। शिष्य अन्य संन्यासियों के

साथ पीछे पीछे चला। शंख-घण्टों की ध्वनि चारों ओर गूंज उठी। भागीरथी गंगाजी अपनी लहरों से मानो हाव-भाव के साथ नृत्य करने लगीं। मार्ग से जाते समय स्वामीजी शिष्य से बोले, 'श्रीगुरुदेव ने मुझसे कहा था कि तू मुझे कन्धे पर चढ़ाकर जहाँ ले जायगा, मैं वहीं जाऊँगा और रहूँगा, चाहे वह स्थान वृक्ष के तले हो या कुटी हो।' इसीलिए मैं स्वयं उनको कन्धे पर उठाकर नयी मठभूमि पर ले जा रहा हूँ। निश्चय जान लेना कि श्रीगुरुदेव 'बहुजनहिताय' यहाँ दीर्घ काल रहेंगे।

शिष्य——श्रीरामकृष्ण ने आपसे यह बात कब कही थी ?

स्वामीजी——(मठ के साधुओं को दिखाकर) क्या इनसे कभी यह बात नहीं सुनी ? काशीपुर के बाग में उन्होंने यह कहा था।

शिष्य——जी हाँ, हाँ। उसी समय सेवाधिकार के बारे में श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ तथा संन्यासी भक्तों में कुछ फूट सी पड़ गयी थी।

स्वामीजी——हाँ, फूट तो नहीं कह सकते, पर मन में कुछ मैल सा जरूर आ गया था। स्मरण रखना कि जो श्रीरामकृष्ण के भक्त हैं, जिन्होंने उनकी कृपा यथार्थ पायी है, वे गृहस्थ हों या संन्यासी, उनमें कभी कोई फूट नहीं हो सकती और न रही है। फिर भी उस थोड़े से मनोमालिन्य का कारण क्या था, सुनेगा ? सुन, प्रत्येक भक्त अपने अपने रंग से श्रीरामकृष्ण को रंगता है और इसीलिए वह उन्हें भिन्न भिन्न भाव से देखता है तथा समझता है। मानो वे एक सूर्य हैं और हम लोग भिन्न भिन्न रंगों के कांच अपनी आँखों के सामने लगाकर उस एक ही सूर्य को भिन्न भिन्न रंगों का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार से भविष्य में भिन्न भिन्न मतों का सृजन होता है; परन्तु जो सौभाग्य से अवतारी

पुरुषों का साक्षात् सत्संग करते हैं, उनके जीवन-काल में ऐसे दलों का प्राय: सृजन नहीं होता। आत्माराम पुरुष की ज्योति से वे चकाचौंध हो जाते हैं; अहंकार, अभिमान, क्षुद्र बुद्धि आदि सब मिट जाते हैं। अतएव दल बनाने का कोई अवसर उनको नहीं मिलता। वे अपने अपने भावानुसार उनकी हृदय से पूजा करते हैं।

शिष्य---महाराज, तब क्या श्रीरामकृष्ण के सब भक्त उनको भगवान जानकर भी उसी एक भगवान के स्वरूप को भिन्न भिन्न भावों से देखते हैं और इसी कारण क्या उनके शिष्य एवं प्रशिष्य छोटी छोटी सीमाओं में बद्ध होकर छोटे छोटे दल या सम्प्रदायों का सृजन कर बैठते हैं ?

स्वामीजी---हाँ, इसी कारण से कुछ समय में सम्प्रदाय बन ही जायेंगे। देखो न, चैतन्यदेव के वर्तमान समय के अनुयायिओं में दो तीन सौ सम्प्रदाय हैं, ईसा के भी हजारों मत निकले हैं, परन्तु बात यह है कि वे सब सम्प्रदाय चैतन्यदेव और ईसा को ही मानते हैं।

शिष्य---तो ऐसा अनुमान होता है कि श्रीरामकृष्ण के भक्तों में भी कुछ समय के पश्चात् अनेक सम्प्रदाय निकल पड़ेंगे।

स्वामीजी---अवश्य निकलेंगे; परन्तु जो मठ हम यहाँ बनाते हैं उसमें सभी मतों और भावों का सामंजस्य रहेगा। श्रीगुरुदेव का जो उदार मत था उसी का यह केन्द्र होगा। महासमन्वयरूपी किरण जो यहाँ से प्रकाशित होगी, उससे सारा जगत् प्रकाशित हो जायगा।

इसी प्रकार का वार्तालाप करते हुए वे सब मठभूमि पर पहुँचे। स्वामीजी ने कन्धे पर से डिब्बे को जमीन पर बिछे हुए आसन पर उतारा और भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया। अन्य सभी ने भी प्रणाम किया।

इसके बाद स्वामीजी पूजा के लिए बैठ गये। पूजा के अन्त में यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके हवन किया और संन्यासी गुरुभाइयों की सहायता से स्वयं क्षीर पकाकर श्रीरामकृष्ण को भोग चढ़ाया। ऐसा स्मरण होता है कि उस दिन स्वामीजी ने कुछ गृहस्थों को दीक्षा भी दी थी। जो कुछ भी हो, फिर पूजा सम्पन्न होने पर स्वामीजी ने समागतों को आदर से बुलाकर कहा, "आज आप लोग तन-मन-वाक्य द्वारा श्रीगुरुदेव से ऐसी प्रार्थना कीजिये जिससे महायुगावतार श्रीरामकृष्ण 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' इस पुण्यक्षेत्र पर अधिष्ठित रहें और इसे सब धर्मों का अपूर्व समन्वय-केन्द्र बनाये रखें।" हाथ जोड़कर सभी ने प्रार्थना की। पूजा सम्पूर्ण होने पर स्वामीजी ने शिष्य से कहा, "श्रीगुरुदेव के इस डिब्बे को लौटा ले जाने का अधिकार हम लोगों (संन्यासियों) में से किसी को नहीं है; क्योंकि हमने ही यहाँ श्रीगुरुदेव की स्थापना की है। अतएव तू इस डिब्बे को अपने मस्तक पर रखकर मठ (नीलाम्बर बाबू की वाटिका) को ले चल।" शिष्य को डिब्बे को स्पर्श करने में हिचकिचाते देख स्वामीजी बोले, "डरो मत, उठा लो, मेरी आज्ञा है।" तब शिष्य ने बड़े आनन्द से स्वामीजी की आज्ञा को शिरोधार्य कर डिब्बे को अपने सिर पर उठा लिया। अपने गुरु की आज्ञा से उस डिब्बे को स्पर्श करने का अधिकार पाने पर उसने अपने को कृतार्थ माना। आगे आगे शिष्य, उसके पीछे स्वामीजी और उनके पीछे बाकी सब चलने लगे। रास्ते में स्वामीजी उससे बोले, "श्रीगुरुदेव तेरे सिर पर सवार होकर तुझे आशीर्वाद दे रहे हैं। आज से सावधान रहना, किसी अनित्य विषय में अपना मन न लगाना।" एक छोटा सा पुल पार करते समय स्वामीजी शिष्य से फिर बोले, "देखो, यहाँ

खूब सावधानी और सतर्कता से चलना।"

इस प्रकार सब लोग निर्विघ्न मठ में पहुँचकर हर्ष मनाने लगे। स्वामीजी अब शिष्य से कथा-प्रसंग करने लगे, "श्रीगुरुदेव की इच्छा से आज उनके धर्मक्षेत्र की प्रतिष्ठा हो गयी। बारह वर्ष की चिन्ता का बोझ आज सिर से उतर गया। अब मेरे मन में क्या क्या भाव उदय हो रहे हैं, सुनेगा ? यह मठ विद्या एवं साधना का एक केन्द्र-स्थान होगा। तुम्हारे समान सब धार्मिक गृहस्थ इस भूमि के चारों ओर अपने घर-बार बनाकर बसेंगे और बीच में त्यागी संन्यासी लोग रहेंगे। मठ के दक्षिण की ओर इंग्लैंड तथा अमरीका के भक्तों के लिए गृह बनाये जायेंगे। यदि ऐसा बन जाय तो कैसा होगा ?

शिष्य—आपकी यह कल्पना बड़ी अद्‌भुत है।

स्वामीजी—कल्पना क्यों ? समय आने पर यह सब अवश्य हो जायगा। मैं तो इसकी नींव मात्र डाल रहा हूँ। बाद में और न जाने क्या क्या होगा ? कुछ तो मैं कर जाऊँगा और कुछ विचार (ideas) तुम लोगों को दे जाऊँगा ? भविष्य में तुम उन सब को कार्य रूप में परिणत करोगे। बड़ी बड़ी मीमांसा (principles) को सुनकर रखने से क्या होगा ? प्रतिदिन उनको कार्यान्वित करना चाहिए। शास्त्रों की लम्बी लम्बी बातों को केवल पढ़ने से क्या होगा ? पहले उन्हें समझना चाहिए। फिर अपने जीवन में उनको परिणत करना चाहिए। समझे ? इसी को कहते हैं (practical religion) व्यावहारिक धर्म।

इस प्रकार अनेक प्रसंग होते-होते श्रीशंकराचार्य का प्रसंग आरम्भ हुआ। शिष्य आचार्य शंकर का बड़ा ही पक्षपाती था; यहाँ तक कि उसको उन पर दीवाना कहा जा सकता था। वह सब दर्शनों

में शंकरप्रतिष्ठित अद्वैत मत को मुकुटमणि समझता था। और यदि कोई श्रीशंकराचार्य के उपदेशों में कुछ दोष निकालता था तो उसके हृदय में सर्पदंश की सी पीड़ा होने लगती थी। स्वामीजी यह जानते थे और उनको यह पसन्द नहीं था कि कोई किसी मत का दीवाना बन जाय। वे जब भी किसी को किसी विषय का दीवाना देखते थे, तभी उस विषय के विरुद्ध पक्ष में सहस्रों अमोघ युक्तियों से उस दीवानेपनरूपी बांध को चूर्ण चूर्ण कर देते थे।

स्वामीजी---शंकर की बुद्धि क्षुर-धार के समान तीव्र थी। वे विचारक थे और पण्डित भी, परन्तु उनमे उदार भावों की गम्भीरता अधिक नहीं थी और ऐसा अनुमान होता है कि उनका हृदय भी उसी प्रकार का था। इसके अतिरिक्त उनमें ब्राह्मणत्व का अभिमान बहुत था। एक दक्षिणी ब्राह्मण थे, और क्या? अपने वेदान्त भाष्य में कैसी बहादुरी से समर्थन किया है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य जातियों को ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता! उनके विचार की क्या प्रशंसा करूँ! विदुरजी का उल्लेख कर उन्होंने कहा है कि पूर्व जन्म में ब्राह्मण शरीर होने के कारण वह (विदुर) ब्रह्मज्ञ हुए थे। अच्छा, यदि आजकल किसी शूद्र को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो तो क्या शंकर के मतानुसार कहना होगा कि वह पूर्वजन्म में ब्राह्मण था? क्यों, ब्राह्मणत्व को लेकर ऐसी खींचातानी करने का क्या प्रयोजन है। वेद ने तो प्रत्येक त्रैवर्णिक को ही वेदपाठ और ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है। तो फिर इस विषय के निमित्त वेद के भाष्य में ऐसी अद्भुत विद्या का प्रकाश करने का कोई प्रयोजन न था। फिर उनके हृदय के भाव का विचार करो। उन्होंने कितने बौद्ध श्रमणकों को आग में झोंक कर मार डाला! इन बौद्ध लोगों को भी कैसी बुद्धि थी कि तर्क

में हारकर आग में जल मरे। शंकराचार्य के ये कार्य, संकीर्ण दीवानेपन से निकले हुए पागलपन के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं; दूसरी ओर बुद्धदेव के हृदय का विचार करो। 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' का तो कहना ही क्या वे एक बकरी के बच्चे की जीवनरक्षा के लिए अपना जीवन-दान देने को सदा प्रस्तुत रहते थे। कैसा उदार भाव, कैसी दया!—एक बार सोचो तो।

शिष्य—क्यों महाराज, क्या बुद्धदेव के इस भाव को भी और एक प्रकार का पागलपन नहीं कह सकते? एक पशु के निमित्त अपने प्राण देने को तैयार हो गये!

स्वामीजी—परन्तु उनके उस दीवानेपन से इस संसार के कितने जीवों का कल्याण हुआ यह भी तो देखो। कितने आश्रम बने, कितने विद्यालय खुले, कितनी पशुशालाएँ स्थापित हुईं, स्थापत्य विद्या का कितना विकास हुआ, यह सब भी तो सोचो! बुद्धदेव के जन्म होने के पूर्व इस देश में क्या था? तालपत्र की पोथियों में कुछ धर्मतत्त्व था, सो भी बिरले ही मनुष्य उसको जानते थे। लोग इसको कैसे नित्य कार्य में परिणत करें यह बुद्धदेव ने ही सिखलाया। वे ही वास्तव में वेदान्त के स्फूर्ति-देवता थे।

शिष्य—परन्तु महाराज, यह भी है कि वर्णाश्रमधर्म को तोड़कर भारत में हिन्दू धर्म के विप्लव की सृष्टि वे ही कर गये हैं और इसीलिए कुछ ही दिनों में उनका धर्म भारत से निकाल दिया गया। यह बात भी सत्य प्रतीत होती है।

स्वामीजी—बौद्ध धर्म की ऐसी दुर्दशा उनकी शिक्षा के कारण नहीं हुई, पर हुई उनके शिष्यों के दोष से। दर्शनशास्त्रों की अत्यधिक चर्चा से उनके हृदय की उदारता कम हो गयी। तत्पश्चात् क्रमशः वामाचारियों के व्यभिचार से बौद्ध धर्म मर गया। ऐसी

बीभत्स वामाचार-प्रथा का उल्लेख वर्तमान समय के किसी तन्त्र में भी नहीं है ! बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र 'जगन्नाथ क्षेत्र' था। वहाँ के मन्दिर पर जो बीभत्स मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, उनको देखने से ही इन बातों को जान जाओगे। श्रीरामानुजाचार्य तथा महाप्रभु चैतन्यदेव के समय से यह पुरुषोत्तम क्षेत्र वैष्णवों के अधिकार में आया है। वर्तमान समय में महापुरुषों की शक्ति से इस स्थान ने एक और नया रूप धारण किया है।

शिष्य—महाराज, शास्त्रों से तीर्थस्थानों की विशेष महिमा जान पड़ती है। यह कहाँ तक सत्य है ?

स्वामीजी—समस्त ब्रह्माण्ड जब नित्य आत्मा ईश्वर का ही विराट शरीर है, तब विशेष विशेष स्थानों के माहात्म्य में आश्चर्य की क्या बात है ? विशेष स्थानों पर उनका विशेष विकास है। कहीं पर आप ही से प्रकट होते हैं और कहीं कहीं शुद्धसत्त्व मनुष्य के व्याकुल आग्रह से प्रकट होते हैं। साधारण मनुष्य जिज्ञासु होकर वहाँ पहुँचने पर सहज में फल प्राप्त करते हैं। इसलिए तीर्थादि का आश्रय लेने से समय पर आत्मा का विकास होना सम्भव है।

फिर भी यह तुम निश्चय जानो कि इस मानव-शरीर की अपेक्षा और कोई बड़ा तीर्थ नहीं है। इस शरीर में जितना आत्मा का विकास हो सकता है उतना और कहीं नहीं। श्रीजगन्नाथजी का जो रथ है वह भी मानो इसी शरीररूपी रथ का एक स्थूल रूप है। इसी शरीररूपी रथ में हमें आत्मा का दर्शन करना होगा। तूने तो पढ़ा ही है कि 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'। 'मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते' में जो वामनरूपी आत्मा के दर्शन का वर्णन किया है वही ठीक जगन्नाथ दर्शन है। इसी

प्रकार 'रथे च वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते' का भी अर्थ यही है कि तेरे शरीर में जो आत्मा है उसका दर्शन यदि तू कर लेगा तो फिर तेरा पुनर्जन्म नहीं होगा। परन्तु अभी तो तू इस आत्मा की उपेक्षा करके अपने इस विचित्र जड़ शरीर को ही सर्वदा 'मैं' समझा करता है। यदि लकड़ी के रथ में भगवान को देखकर ही जीव की मुक्ति हो जाती तब तो प्रत्येक वर्ष करोड़ों मनुष्यों को ही मुक्तिलाभ हो जाता—और फिर आजकल तो जगन्नाथजी पहुँचने के लिए रेल की भी सुविधा हो गयी है! फिर भी जगन्नाथजी के सम्बन्ध में साधारण भक्तों का जो विश्वास है उसके बारे में मैं यह नहीं कहता हूँ कि वह कुछ भी नहीं अथवा मिथ्या है और सचमुच एक श्रेणी के लोग ऐसे हैं भी जो इसी मूर्ति का अवलम्बन लेकर धीरे धीरे उच्च तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं; अतएव इस मूर्ति का आश्रय लेकर भगवान की विशेष शक्ति जो प्रकाशित हो रही है इसमें भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

शिष्य—महाराज, फिर, क्या मूर्ख और बुद्धिमान का धर्म अलग अलग है?

स्वामीजी—हाँ, यदि ऐसा न होता तो शास्त्रों में अधिकार के बारे में जो इतनी चर्चा, इतना निर्देश तथा वर्णन आदि किया गया है वह फिर क्यों होता? सब कुछ सत्य ही है। फिर भी आपेक्षिक सत्य भिन्न भिन्न मात्राओं का होता है। मनुष्य जिसे सत्य कहता है वह सब इसी प्रकार का है—कोई अल्प मात्रा में सत्य होता है, कोई अधिक मात्रा में। नित्य सत्य तो केवल एकमात्र भगवान ही हैं। यही आत्मा जड़ वस्तुओं में भी व्याप्त है—यद्यपि नितान्त सुप्तावस्था में। यही जीवनामधारी मनुष्य में किसी अंश में जाग्रत (Conscious) हो जाती है। और फिर श्रीकृष्ण,

बुद्धदेव, भगवान शंकराचार्य आदि में वही पूर्ण भाव से जागृत (Superconscious) हो जाती है। इसके परे और एक अवस्था है जिसको भाव या भाषा द्वारा प्रकट नहीं कर सकते— 'अवाङ्मनसगोचरम्'।

शिष्य—महाराज, किसी किसी भक्त-सम्प्रदाय का ऐसा मत है कि भगवान के साथ कोई एक भाव या सम्बन्ध स्थापित करके साधना करनी चाहिए। वे लोग आत्मा की महिमा आदि पर कोई ध्यान नहीं देते। और जब इस सम्बन्ध में कोई चर्चा होती है तो वे कहते हैं कि 'यह सब चर्चा छोड़कर सर्वदा भाव में ही रहो'।

स्वामीजी—हाँ, उनके लिए उनका यह कहना भी ठीक है। ऐसा ही करते करते एक दिन उनमें भी ब्रह्म जागृत हो उठेगा। हम संन्यासी भी जो कुछ करते हैं वह भी एक प्रकार का 'भाव' ही है। हमने संसार का त्याग किया है; अतएव माँ, बाप, स्त्री, पुत्र इत्यादि जो सांसारिक सम्बन्ध हैं उनमें से किसी एक का भाव ईश्वर पर आरोपित कर साधना करना हमारे लिए कैसे सम्भव हो सकता है? हमारी दृष्टि से ये सब संकीर्ण बातें हैं। सचमुच, सब भावों से अतीत भगवान की उपासना करना बड़ा कठिन है। परन्तु बताओ तो सही यदि हम अमृत नहीं पा सकते तो क्या विषपान करने लगें? इसी आत्मा के सम्बन्ध में तू सदैव चर्चा कर, श्रवण कर, मनन कर। इस प्रकार अभ्यास करते करते कुछ समय के बाद देखोगे कि तुझमें ब्रह्मरूपी सिंह जागृत हो उठेगा। तू इन सब भावकल्पनाओं के परे चला जा। सुन, कठोपनिषद् में यम ने क्या कहा है—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'—उठो, जागो और श्रेष्ठ

पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त कर लो।

इस प्रकार यह प्रकरण समाप्त हुआ। मठ में प्रसाद पाने की घण्टी हो गयी और स्वामीजी के साथ शिष्य भी प्रसाद ग्रहण करने के लिए चला गया।

परिच्छेद १५

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (फरवरी मास)

विषय—स्वामीजी की बाल्य व यौवन अवस्था की कुछ घटनाएँ तथा दर्शन—अमरीका में प्रकाशित विभूतियों का वर्णन—भीतर से मानो कोई वक्तृताराशि को बढ़ाता है ऐसी अनुभूति—अमरीका के स्त्री पुरुषों का गुणावगुण—ईर्ष्या के मारे पादरियों का अत्याचार—जगत् में कोई महत्कार्य कपट से नहीं बनता—ईश्वर पर निर्भरता—नाग महाशय के विषय में कुछ कथन।

स्वामीजी मठ को बेलुड़ में, श्रीयुत नीलाम्बर बाबू के बाग में ले आये हैं। आलमबाजार में से यहाँ आने पर अभी तक सब वस्तुओं को ठीक से लगाया नहीं गया है। चारों ओर सब बिखरी पड़ी हैं। स्वामीजी नये भवन में आकर बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। शिष्य के वहाँ उपस्थित होने पर बोले, "अहा! देखो कैसी गंगाजी हैं। कैसा भवन है! ऐसे स्थान पर मठ न बनने से क्या कभी चित्त प्रसन्न होता।" तब अपराह्न का समय था।

सन्ध्या के पश्चात् दुमंजिले पर स्वामीजी से शिष्य का साक्षात् होने से अनेक प्रकार की चर्चा होने लगी। उस गृह में उस समय और कोई भी नहीं था। शिष्य बीच बीच में बातचीत के सिल-सिले में अनेक प्रकार के प्रश्न करने लगा। अन्त में उसने उनकी बाल्यावस्था के विषय में सुनने की अभिलाषा प्रकट की। स्वामीजी कहने लगे, "छोटी अवस्था से ही मैं बड़ा साहसी था। यदि ऐसा न होता तो निःसम्बल संसार में फिरना क्या मेरे लिए कभी

सम्भव होता ?"

रामायण की कथा सुनने की इच्छा उन्हें बचपन से ही थी। पड़ोस में जहाँ भी रामायणगान होता था, वहीं स्वामीजी अपना खेलकूद छोड़कर पहुँच जाते थे। उन्होंने कहा कि कथा सुनते सुनते किसी दिन उसमें ऐसे लीन हो जाते थे कि अपना घरबार तक भूल जाते थे। 'रात बढ़ गयी है' या 'घर जाना है' इत्यादि विषयों का स्मरण भी नहीं रहता था। किसी दिन कथा में सुना कि हनुमानजी कदली बन में रहते हैं। सुनते ही उनके मन में इतना विश्वास हो गया कि वे कथा समाप्त होने पर उस दिन रात में घर नहीं लौटे और घर के निकट किसी एक उद्यान में केले के पेड़ के नीचे बहुत रात तक हनुमानजी के दर्शन पाने की इच्छा से बैठे रहे।

रामायण के नायक नायिकाओं में से हनुमानजी पर स्वामीजी की अगाध भक्ति थी। संन्यासी होने पर भी कभी कभी महावीरजी के प्रसंग में मतवाले हो जाते थे और अनेक बार मठ में महावीरजी की एक प्रस्तर मूर्ति रखने का संकल्प करते थे।

छात्रजीवन में दिन भर अपने साथियों के साथ आमोदप्रमोद में ही रहते थे। रात को घर के द्वार बन्द कर अपना अध्ययन करते थे। दूसरे किसी को यह नहीं जाम पड़ता था कि वे कब अपना अध्ययन कर लेते हैं।

* * *

शिष्य ने पूछा, "महाराज, स्कूल में पढ़ते समय क्या कभी आपको किसी प्रकार का दिव्यदर्शन (Vision) हुआ था ?"

स्वामीजी—स्कूल में पढ़ते समय एक दिन रात में द्वार बन्द कर ध्यान करते करते मन भलीभाँति तन्मय हो गया। कितनी

देर ऐसे भाव से ध्यान किया था, यह कह नहीं सकता। ध्यान भंग हो गया। तब भी बैठा हूँ। इतने में ही देखता हूँ कि दक्षिण दीवाल को भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति निकल आयी और मेरे सामने खड़ी हो गयी। उसके मुख पर एक अद्‌भुत ज्योति थी पर भाव मानो कोई भी न था—प्रशान्त संन्यासी मूर्ति। मस्तक मुण्डित था और हाथों में दन्ड-कमण्डल था। मेरे ऊपर टकटकी लगाकर कुछ समय तक देखती रही। मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। तत्पश्चात् मन कुछ ऐसा भयभीत हो गया कि मैं शीघ्र ही द्वार खोलकर बाहर निकल आया। फिर मैं सोचने लगा क्यों मैं इस प्रकार मूर्ख के समान भाग आया, सम्भव था कि वह कुछ मुझसे कहती। परन्तु फिर कभी उस मूर्ति के दर्शन नहीं हुए। कितने ही दिन चिन्ता की कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें तो उससे डरूँगा नहीं वरन् वार्तालाप करूँगा; किन्तु फिर दर्शन हुआ ही नहीं।

शिष्य—फिर इस विषय पर आपने कुछ चिन्ता भी की ?

स्वामीजी—चिन्ता अवश्य की, किन्तु ओर-छोर नहीं मिला। अब ऐसा अनुमान होता है कि मैंने तब भगवान बुद्धदेव को देखा था।

कुछ देर बाद स्वामीजी बोले, "मन के शुद्ध होने पर अर्थात् मन से काम और कांचन की लालसा शान्त हो जाने पर, कितने ही दिव्य दर्शन होते हैं। वे दर्शन बड़े ही अद्‌भुत होते हैं, परन्तु उन पर ध्यान रखना उचित नहीं है। रात दिन उनमें ही मन रहने से साधक और आगे नहीं बढ़ सकते हैं। तुमने भी तो सुना है कि श्रीगुरुदेव कहा करते थे, 'मेरे चिन्तामणि की ड्योढ़ी पर कितने ही मणि पड़े हुए हैं'। आत्मा का साक्षात्कार करना ही उचित

है। उन सब पर ध्यान देने से क्या होगा ?"

इन कथाओं को कहते ही स्वामीजी तन्मय होकर किसी विषय की चिन्ता करते हुए कुछ समय तक मौन भाव से बैठे रहे। फिर कहने लगे, "देखो, जब मैं अमरीका में था, तब मुझमें अद्‌भुत शक्तियों का स्फुरण हुआ था। क्षण मात्र में मैं मनुष्य की आँखों से उसके मन के सब भावों को जान जाता था। किसी के मन में कोई कैसी ही बात क्यों न हो, वह सब मेरे सामने 'हस्तामलकवत्' प्रत्यक्ष हो जाती थी। कभी किसी किसी से कह भी दिया करता था। जिन जिन से मैं ऐसा कहा करता था उनमें से अनेक मेरे चेले बन जाते थे—और यदि कोई किसी बुरे अभिप्राय से मुझसे मिलने आता था, तो वह इस शक्ति का परिचय पाकर फिर कभी मेरे पास नहीं आता था।

"जब मैंने शिकागो आदि शहरों में वक्तृता देना आरम्भ किया तब सप्ताह में बारह बारह, तेरह तेरह और कभी इससे भी अधिक वक्तृताएँ देनी पड़ती थीं। शारीरिक और मानसिक परिश्रम बहुत अधिक होने के कारण मैं बहुत थक जाता था और अनुमान होता था कि मानो वक्तृताओं के सब विषय समाप्त होने वाले ही हैं। 'अब मैं क्या करूँगा, कल फिर नयी बातें क्या कहूँगा' बस ऐसी ही चिन्ता मन में आया करती थी। ऐसा अनुमान होता था कि कोई नया भाव नहीं उठेगा। एक दिन वक्तृता देने के बाद अन्त में लेटे हुए चिन्ता कर रहा था, 'बस, अब तो सब कह दिया, अब क्या उपाय करूँ ?' ऐसी चिन्ता करते करते कुछ तन्द्रा सी आ गयी। उसी अवस्था में सुनने में आया कि मानो कोई मेरे पास खड़े होकर वक्तृता दे रहे हैं, उसमें कितने ही नये भाव तथा नयी कथाओं के वर्णन हैं—मानो वे सब इस जन्म में कभी मेरे

सुनने में या ध्यान में आये ही नहीं। सोकर उठते ही उन सब बातों का स्मरण रखता था और वक्तृताओं में वही बातें कहा करता था। ऐसा कितनी ही बार हुआ है, कहाँ तक गिनाऊँ? सोते सोते ऐसी वक्तृताएँ कितनी ही बार सुनीं! कभी कभी तो वक्तृताएँ इतने जोर से दी जाती थीं कि दूसरे कमरों में भी औरों को शब्द सुनायी पड़ता था। दूसरे दिन वे लोग मुझसे पूछते थे, 'स्वामीजी, कल रात में आप किससे इतनी जोर से वार्तालाप कर रहे थे?' उनके इस प्रश्न को किसी प्रकार टाल दिया करता था। वह बड़ी ही अद्‌भुत घटना थी।"

शिष्य स्वामीजी की बातों को सुन निर्वाक् होकर चिन्ता करते हुए बोला, "महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि आप ही सूक्ष्म शरीर में वक्तृताएँ दिया करते थे और स्थूल शरीर से कभी कभी प्रतिध्वनि निकलती थी।"

यह सुनकर स्वामीजी बोले, "सम्भव है।"

इसके बाद अमरीका की बात फिर छिड़ी। स्वामीजी बोले, "उस देश में पुरुषों से स्त्रियाँ अधिक शिक्षिता होती हैं। विज्ञान और दर्शन में बड़ी पण्डिता हैं, इसीलिए वे मेरा इतना मान करती थीं। वहाँ पुरुष रात दिन परिश्रम करते हैं, तनिक भी विश्राम लेने का अवसर नहीं पाते। स्त्रियाँ स्कूलों में पढ़कर और पढ़ाकर विदुषी बन गयी हैं। अमरीका में जिस ओर भी दृष्टि डालो, स्त्रियों का ही साम्राज्य दिखायी देता है।"

शिष्य——महाराज, ईसाइयों में से जो संकीर्ण हृदय के (कट्टर) थे, वे क्या आपके विरुद्ध नहीं हुए?

स्वामीजी——हाँ, हुए कैसे नहीं? फिर जब लोग मेरा बहुत मान करने लगे, तब वे पादरी लोग मेरे बड़े पीछे पड़े। मेरे नाम

पर कितनी ही निन्दा समाचार पत्रों में लिखने लगे। कितने ही लोग उनका प्रतिवाद करने को मुझसे कहते थे, परन्तु मैं उन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया करता था। मेरा यह दृढ़ विश्वास था कि कपट से जगत् में कोई महान् कार्य नहीं होता, इसीलिए उन अश्लील निन्दाओं पर ध्यान न देकर मैं धीरे धीरे अपना कार्य किये जाता था। अनेक बार यह भी देखने में आता था कि जिसने मेरी व्यर्थ निन्दा की वही फिर अनुतप्त होकर मेरी शरण में आता था और स्वयं ही समाचार पत्रों में प्रतिवाद कर मुझसे क्षमा माँगता था। कभी कभी ऐसा भी हुआ कि यह सुनकर कि किसी घर में मेरा निमन्त्रण है, वहाँ कोई जा पहुँचा और मेरे बारे में घरवालों से मिथ्या निन्दा कर आया और घरवाले भी यह सुनकर द्वार बन्द करके कहीं चल दिये। मैं निमन्त्रण पालन कर वहाँ गया, देखा सब सुनसान, कोई भी वहाँ नहीं है। फिर कुछ दिन पीछे वे ही लोग सत्य समाचार को जानकर बड़े दुःखित हो मेरे पास शिष्य होने को आये। बच्चा, जानते तो हो कि इस संसार में निरी दुनियादारी है। जो यथार्थ साहसी और ज्ञानी है, वह क्या ऐसी दुनियादारी से कभी घबड़ाता है? 'जगत् चाहे जो कहे, क्या परवाह है, मैं अपना कर्तव्य पालन करता चला जाऊँगा' यही वीरों की बातें हैं। यदि 'वह क्या कहता है, क्या लिखता है,' ऐसी ही बातों पर रात दिन ध्यान रहे तो जगत् में कोई महान् कार्य हो ही नहीं सकता। क्या तुमने यह श्लोक नहीं सुना—

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥"

लोग तुम्हारी स्तुति करें या निन्दा, लक्ष्मी तुम्हारे ऊपर कृपावती हों या न हों, तुम्हारा देहान्त आज हो या युग भर बाद, तुम न्यायपथ से कभी भ्रष्ट न हो। कितने ही तूफान पार करने पर मनुष्य शान्ति के राज्य में पहुँचता है। जो जितना बड़ा हुआ है, उसके लिए उतनी ही कठिन परीक्षा रखी गयी है। परीक्षारूपी कसौटी पर उसके जीवन के घिसने के पश्चात् जगत् ने उसको बड़ा कहकर स्वीकार किया है। जो भीरु, कापुरुष होते हैं, वे ही समुद्र की लहरों को देखकर किनारे पर ही नाव रखते हैं। जो महावीर होते हैं वे क्या किसी बात पर ध्यान देते हैं? 'जो कुछ होना है सो हो, मैं अपना इष्टलाभ अवश्य करके रहूँगा' यही यथार्थ पुरुषकार है। इस पुरुषकार के हुए बिना सैकड़ों दैव भी तुम्हारे जड़त्व को दूर नहीं कर सकते।

शिष्य—तो दैव पर निर्भर होना क्या दुर्बलता का चिह्न है?

स्वामीजी—शास्त्र में निर्भरता को पंचम पुरुषार्थ कहकर निर्देश किया है; परन्तु हमारे देश में लोग जिस प्रकार दैव पर निर्भर रहते हैं, वह मृत्यु का चिह्न है, महाकापुरुषता की चरम अवस्था है। ईश्वर की एक अद्भुत कल्पना कर उसके माथे अपने दोषों को थापने की चेष्टा मात्र है। श्रीरामकृष्ण द्वारा कथित गोहत्या-पाप की कहानी * तो तुमने सुनी होगी; अन्त में वह पाप उद्यान-

* एक दिन किसी मनुष्य के बगीचे में एक गाय घुस गयी और उसने उसका एक बड़ा सुन्दर पौधा रौंदकर नष्ट कर डाला। इससे वह मनुष्य बहुत ही क्रुद्ध हुआ और उसने उस गाय को इतना मारा कि वह मर गयी। यह खबर सारे गाँव भर में फैल गयी। वह मनुष्य यह देखकर कि उस पर गोहत्या लग रही है कहने लगा, "अरे मैंने गाय को कब मारा है? इसका दोषी तो मेरा हाथ है और चूँकि हाथ इन्द्र के आधीन है इसलिए सारा दोष इन्द्र का है।" इन्द्र ने जब यह सुना तो उसने एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप

स्वामी को ही भोगना पड़ा। आजकल सभी 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' कहकर पाप तथा पुण्य दोनों को ईश्वर के माथे मढ़ते हैं। मानो आप जल के कमलपत्रों के समान निर्लिप्त हैं! यदि वे लोग ऐसे ही भाव पर सर्वदा जमे रह सकें तो वे मुक्त हैं; किन्तु अच्छे कार्य के समय 'मैं' और बुरे के समय 'तुम' इस प्रकार के दैव पर निर्भरता का क्या कहना है! जब तक पूर्ण प्रेम या ज्ञान नहीं होता, तब तक निर्भरता की अवस्था हो ही नहीं सकती। जो ठीक ठीक निर्भर हो गये हैं, उनमें भले-बुरे की भेदबुद्धि नहीं रहती। हममें (श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में) नाग महाशय ही ऐसी अवस्था के उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।

अब बात बात में नाग महाशय का प्रसंग चल पड़ा। स्वामीजी बोले, "ऐसा अनुरागी भक्त और भी दूसरा कोई है? अहा! फिर कब उनसे मिल सकूँगा?"

शिष्य—माताजी (नाग महाशय की पत्नी) ने मुझे लिखा है कि आपके दर्शन-निमित्त वे शीघ्र ही कलकत्ता आयँगी।

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण राजा जनक से उनकी तुलना किया करते थे। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष का दर्शन होना तो बड़े भाग्य की बात है। ऐसे लोगों की कथा सुनने में भी नहीं आती। तुम उनका

धारण कर उस मनुष्य के पास जाकर पूछा, "क्यों भाई, यह सुन्दर बगीचा किसने बनाया है?" वह मनुष्य बोला, "मैंने"। इन्द्र ने फिर पूछा, "और भाई, ये सब बढ़िया बढ़िया पेड़, फल-फूल के पौधे आदि किसने लगाये हैं?" वह मनुष्य बोला, "मैंने ही।" फिर इन्द्र ने मरी हुई गाय की ओर दिखाकर पूछा, "और इस गाय को किसने मारा?" वह मनुष्य बोला, "इन्द्र ने!" यह सुनकर इन्द्र हँसे और बोले, "बगीचा तुमने लगाया, फल-फूल के पौधे तुमने लगाये और गाय मारी बेचारे इन्द्र ने!—क्यों यही बात है न?"

सत्संग सर्वदा करना। वे श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग भक्तों में से एक हैं।

शिष्य—उस देश में अनेक लोग उनको पागल समझते हैं, परन्तु मैंने तो पहले से ही उनको एक महापुरुष समझा है। वे मुझसे बहुत प्रेम करते हैं और मुझ पर उनकी कृपा भी बहुत है।

स्वामीजी—तुमने ऐसे महापुरुष का सत्संग किया है फिर तुम्हें क्या चिन्ता है? अनेक जन्मों की तपस्या से ऐसे महापुरुषों का सत्संग मिलता है। श्री नाग महाशय घर में किस प्रकार से रहते हैं?

शिष्य—महाराज, उन्हें तो मैंने कभी कोई काम-काज करते नहीं पाया। केवल अतिथि-सेवा में लगे रहते हैं। पाल बाबू आदि जो कुछ रुपया दे देते हैं उसके अतिरिक्त उनके खाने पीने का और कोई सहारा नहीं है। परन्तु धनिकों के भवन में जैसी धूम-धाम रहती है वैसी ही उनके घर भी देखी। परन्तु वे अपने भोग के निमित्त एक भी पैसा व्यय नहीं करते। जो कुछ व्यय करते हैं केवल परसेवार्थ। सेवा—सेवा—यही उनके जीवन का महाव्रत मालूम होता है। ऐसा अनुमान होता है कि प्रत्येक जीव में, प्रत्येक वस्तु में आत्मदर्शन करके वे अभिन्न ज्ञान से जगत् की सेवा करने को व्याकुल हैं। सेवा के लिए अपने शरीर को शरीर नहीं समझते। वास्तव में मुझे भी सन्देह होता था कि उन्हें शरीर-ज्ञान है या नहीं। आप जिस अवस्था को ज्ञानातीत अवस्था (superconscious state) कहते हैं, मेरा अनुमान है कि वे सर्वदा उसी अवस्था में रहते हैं।

स्वामीजी—ऐसा क्यों न हो? श्रीगुरुदेव उनसे कितना प्रेम करते थे। वे ही उनके एक साथी हैं जिन्होंने पूर्व बंग में जन्म लिया था। उन्हीं के प्रकाश से पूर्व बंग प्रकाशित हुआ है।

परिच्छेद १६

स्थान—बेलुड़, किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (नवम्बर)

विषय–काश्मीर में अमरनाथजी का दर्शन—क्षीरभवानी के मन्दिर में देवीजी की वाणी का श्रवण और मन से सकल संकल्प का त्याग—प्रेतयोनि का अस्तित्व—भूत-प्रेत देखने की इच्छा मन में रखना अनुचित—स्वामीजी का प्रेतदर्शन और श्राद्ध व संकल्प से उसका उद्धार।

आज दो तीन दिन हुए कि स्वामीजी लौटकर काश्मीर से आये हैं। शरीर कुछ स्वस्थ नहीं है। शिष्य के मठ में आते ही स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज बोले, "जब से काश्मीर से लौटे हैं, स्वामीजी किसी से कुछ वार्तालाप नहीं करते, मौन होकर स्तब्ध बैठे रहते हैं, तुम स्वामीजी से कुछ वार्तालाप करके उनके मन को नीचे (अर्थात् जगत् के कार्यों पर) लाने का प्रयत्न करो।"

शिष्य ने ऊपर स्वामीजी के कमरे में जाकर देखा कि स्वामीजी मुक्तपद्मासन होकर पूर्व की ओर मुँह फेरे बैठे हैं, मानो गम्भीर ध्यान में मग्न हैं। मुँह पर हँसी नहीं, उज्ज्वल नेत्रों की दृष्टि बाहर की ओर नहीं, मानो अपने भीतर कुछ देख रहे हैं। शिष्य को देखते ही बोले, "बच्चा, आ गये; बैठो।" बस, इतनी ही बात की। स्वामीजी के बायें नेत्र को रक्तवर्ण देखकर शिष्य ने पूछा, "आपकी यह आँख लाल कैसे हो रही है?" "कुछ नहीं" कहकर स्वामीजी फिर स्तब्ध हो गये। बहुत समय तक बैठे रहने पर भी जब स्वामीजी ने कुछ भी वार्तालाप नहीं किया तब शिष्य व्याकुल होकर स्वामीजी के चरणकमलों को स्पर्श कर बोला,

"श्रीअमरनाथजी में आपने जो कुछ प्रत्यक्ष किया है क्या वह सब मुझे नहीं बतलाइयेगा ?" पादस्पर्श से स्वामीजी कुछ चौंक से उठे, दृष्टि भी बाहर की ओर खुली और बोले, "जब से अमरनाथजी का दर्शन किया है, चौबीसों घण्टे मानो श्रीशिवजी मेरे मस्तक में बैठे रहते हैं; किसी प्रकार भी नहीं हटते।" शिष्य इन बातों को सुनकर अवाक् हो गया।

स्वामीजी—अमरनाथ पर और फिर क्षीरभवानी जी के मन्दिर मे मैंने बहुत तपस्या की थी।

स्वामीजी फिर कहने लगे, "अमरनाथ को जाते समय पहाड़ की एक खड़ी चढ़ाई से होकर गया था। उस पगडण्डी से पहाड़ी लोग ही चढ़ाई-उतराई करते हैं, कोई यात्री उधर से नहीं जाता; परन्तु इसी मार्ग से होकर जाने की मुझे जिद सी हो गयी थी। उसी परिश्रम से शरीर कुछ थका हुआ है। वहाँ ऐसा कड़ा जाड़ा पड़ता है कि शरीर में सुई-सी चुभती है।"

शिष्य—मैंने सुना है कि लोग नग्न होकर अमरनाथजी का दर्शन करते हैं। क्या यह सत्य है ?

स्वामीजी—मैंने भी कौपीन मात्र धारण कर और भस्म लगाकर गुफा में प्रवेश किया था; तब ठण्डक या गरमी कुछ नहीं मालूम होती थी, परन्तु मन्दिर से निकलते ही ठण्ड से अकड़ गया।

शिष्य—क्या वहाँ कभी कबूतर भी देखने में आया था ? सुना है कि ठण्ड के मारे वहाँ कोई जीव-जन्तु नहीं बसता है, केवल सफेद कबूतरों की एक टुकड़ी कहीं से कभी कभी आ जाती है।

स्वामीजी—हाँ, तीन-चार सफेद कबूतरों को देखा था। वे उसी गुफा में या आसपास के किसी पहाड़ में रहते हैं, ठीक अनुमान नहीं कर सका।

शिष्य—महाराज, लोगों से सुना है कि यदि कोई गुफा से बाहर निकलर सफेद कबूतरों को देखे तो समझते हैं कि यथार्थ शिव के दर्शन हुए।

स्वामीजी बोले, "सुना है कि कबूतर देखने से जिसके मन में जैसी कामना रहती है, वही सिद्ध होती है।"

अब स्वामीजी फिर कहने लगे कि लौटते समय जिस मार्ग से सब यात्री आते हैं, उसी मार्ग से वे भी श्रीनगर को आये थे। श्रीनगर पहुँचने के कुछ दिन बाद क्षीरभवानीजी के दर्शन को गये और सात दिन वहाँ ठहरकर देवी को क्षीर चढ़ाई और पूजा तथा हवन किया था। प्रतिदिन वहाँ एक मन दूध की क्षीर का भोग चढ़ाते थे और हवन करते थे। एक दिन पूजा करते समय मन में यह विचार उदित हुआ, "माता भवानीजी यहाँ सचमुच कितने समय से प्रकाशित हैं? प्राचीन काल में यवनों ने यहाँ आकर उनके मन्दिर को विध्वंस कर दिया था और यहाँ के लोग कुछ कर नहीं सके। हाय! यदि मैं उस समय होता, तो चुपचाप यह कभी नहीं देखता।" इस विचार से जब उनका मन दुःख और क्षोभ से अत्यन्त व्याकुल हो गया था, तब उनके सुनने में यह स्पष्ट आया था कि माताजी कह रही हैं—"मेरी इच्छा से ही यवनों ने मन्दिर का विध्वंस किया है, जीर्ण मन्दिर में रहने की मेरी इच्छा है। क्या मेरी इच्छा से अभी यहाँ सातमंजिला सोने का मन्दिर नहीं बन सकता है? तू क्या कर सकता है, मैं तेरी रक्षा करूँगी या तू मेरी रक्षा करेगा?" स्वामीजी बोले, "उस देववाणी को सुनने के समय से मेरे मन में और कोई संकल्प नहीं है। मठ-वठ बनाने का संकल्प छोड़ दिया है। माताजी की जो इच्छा है वही होगा।" शिष्य अवाक् होकर सोचने लगा कि

इन्होंने ही तो एक दिन कहा था, "जो कुछ देखता है या सुनता है वह केवल तेरे भीतर अवस्थित आत्मा की प्रतिध्वनि मात्र है! बाहर कुछ भी नहीं है।" अब स्वामीजी से उसने स्पष्ट पूछा, "महाराज, आपने तो कहा था कि यह सब देववाणी हमारे भीतर के भावों की बाह्य प्रतिध्वनि मात्र है।" स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "भीतर हो या बाहर, इससे क्या? यदि तुम अपने कानों से मेरे समान ऐसी अशरीरी वाणी को सुनो, तो क्या उसे मिथ्या कह सकते हो? देववाणी सचमुच सुनायी देती है, हम लोग जैसे वार्तालाप कर रहे हैं, ठीक इसी प्रकार से।"

शिष्य ने बिना कोई द्विरुक्ति किये स्वामीजी के वाक्यों को शिरोधार्य कर लिया; क्योंकि स्वामीजी की बातों में एक ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि उन्हें बिना माने नहीं रहा जाता था--युक्ति तर्क सब धरे रह जाते थे!

शिष्य ने अब प्रेतात्माओं की बात छेड़ी। "महाराज, जो सब भूत-प्रेतादि योनियों की बात सुनी जाती है, शास्त्रों ने भी जिसका बार बार समर्थन किया है, क्या वह सब सत्य है?"

स्वामीजी---अवश्य सत्य है। क्या जिसको तुम नहीं देखते, वह सत्य नहीं हो सकता? तेरी दृष्टि से बाहर दूर दूर पर कितने ही सहस्रों ब्रह्माण्ड घूम रहे हैं, तुझे नहीं दीख पड़ते तो क्या उनका अस्तित्व भी नहीं है? भूत-प्रेत हैं तो होने दे, परन्तु इनके झगड़े में अपना मन न लगा। इस शरीर में जो आत्मा है, उसको प्रत्यक्ष करना ही तेरा कार्य है। उसको प्रत्यक्ष करने से भूत-प्रेत सब तेरे दासों के दास हो जायेंगे।

शिष्य---परन्तु महाराज, ऐसा अनुमान होता है कि उनको देखने से पुनर्जन्म पर विश्वास बहुत दृढ़ होता है और परलोक

पर कुछ अविश्वास नहीं रहता।

स्वामीजी—तुम सब तो महावीर हो, क्या तुम्हें भी परलोक पर विश्वास करने के लिए भूत-प्रेतों का दर्शन आवश्यक है? कितने शास्त्र पढ़े, कितने विज्ञान पढ़े, इस विराट विश्व के कितने गूढ़ तत्त्व जाने, इतने पर भी आत्मज्ञान लाभ करने के लिए क्या भूत-प्रेतों का दर्शन करना ही पड़ेगा? छि:! छि:!!

शिष्य—अच्छा, महाराज, आपने स्वयं कभी भूत-प्रेतों को देखा है?

स्वामीजी—स्वजनों में से कोई व्यक्ति प्रेत होकर कभी कभी मुझको दर्शन देता था। कभी दूर दूर के समाचार भी लाता था। परन्तु परीक्षा करके देखा कि उसकी सब बातें सदा ठीक नहीं होती थीं। पर किसी एक विशेष तीर्थ पर जाकर 'वह मुक्त हो जाय' ऐसी प्रार्थना करने पर उसका दर्शन फिर मुझे नहीं हुआ।

'श्राद्धादिकों से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है या नहीं?'—अब शिष्य के इस प्रश्न को पूछने पर स्वामीजी बोले, "यह कुछ असम्भव नहीं है।" शिष्य के इस विषय की युक्ति या प्रमाण माँगने पर स्वामीजी ने कहा, "और किसी दिन इस प्रसंग को भलीभाँति समझा दूंगा। श्राद्धादि से प्रेतात्माओं की तृप्ति होती है, इस विषय की अखण्डनीय युक्तियाँ हैं। आज मेरा शरीर कुछ अस्वस्थ है, फिर किसी और दिन इसको समझाऊँगा।" परन्तु फिर शिष्य को स्वामीजी से यह प्रश्न करने का अवसर उसके जीवन भर में नहीं मिला।

परिच्छेद १७

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी (नवम्बर)

विषय—स्वामीजी की संस्कृत रचना—श्रीरामकृष्णदेव के आगमन से भाव व भाषा में प्राण का संचार—भाषा में किस प्रकार से ओजस्विता लानी होगी—भय को त्याग देना होगा—भय से ही दुर्बलता व पाप की वृद्धि—सब अवस्थाओं में अविचल रहना—शास्त्रपाठ करने की उपकारिता—स्वामीजी का अष्टाध्यायी पाणिनी का पठन—ज्ञान के उदय से किसी विषय का अद्‌भुत प्रतीत न होना।

मठ अभी तक बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में ही है! अब अगहन महीने का अन्त है। इस समय स्वामीजी बहुधा संस्कृत शास्त्रादि की आलोचना में तत्पर हैं। उन्होंने 'आचण्डालाप्रतिहतरयः'* इत्यादि श्लोकों की रचना इसी समय की थी। आज स्वामीजी ने "ॐ ह्रीं ऋतम्" इत्यादि स्तोत्र की रचना की और शिष्य को देकर कहा, "देखना इसमें छन्दोभंगादि कोई दोष तो नहीं है?" शिष्य ने उसे ले लिया और उसकी एक नकल उतार ली।

जिस दिन स्वामीजी ने इस स्तोत्र की रचना की थी उस दिन मानो स्वामीजी की जिह्वा पर सरस्वती विराजमान थीं। लगभग दो घण्टे तक स्वामीजी ने शिष्य से सुन्दर और सुललित संस्कृत भाषा में वार्तालाप किया। ऐसा सुन्दर वाक्यविन्यास, शिष्य ने बड़े बड़े पण्डितों के मुँह से भी कभी नहीं सुना था।

---

* स्वामीजी कृत 'कवितावली' देखिये।

जो हो, शिष्य के स्तोत्र की नकल उतार लेने पर स्वामीजी उससे बोले, "देखो, किसी भाव में तन्मय होकर लिखते लिखते कभी कभी मेरी व्याकरण की भूल होती है, इसलिए तुम लोगों से देख लेने को कहता हूँ।"

शिष्य--वे भाषादोष नहीं हैं, वे आर्ष प्रयोग हैं।

स्वामीजी--तुमने तो ऐसा कह दिया, परन्तु साधारण लोग ऐसा क्यों समझेंगे? उस दिन मैंने 'हिन्दू धर्म क्या है' इस विषय पर बंगला भाषा में एक लेख लिखा, तो तुम्हीं में से किसी किसी ने कहा कि इसकी भाषा तो टूटी-फूटी है। मेरा अनुमान है कि सब वस्तुओं की तरह कुछ समय के बाद भाषा और भाव भी फीके पड़ जाते हैं। आजकल इस देश में यही हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। श्रीगुरुदेव के आगमन से भाव और भाषा में फिर नवीन प्रवाह आया है। अब सब को नवीन साँचे में ढालना है, नवीन प्रतिभा की मुहर लगाकर सब विषयों का प्रचार करना पड़ेगा। देखो न, प्राचीन समय के संन्यासियों की चाल ढाल टूटकर अब कैसी एक नवीन परिपाटी बन रही है। इसके विरुद्ध समाज में भी बहुत कुछ प्रतिवाद हो रहा है; परन्तु इससे क्या हुआ और क्या हम ही उससे डरें? आजकल इन संन्यासियों को पचार कार्य के निमित्त दूर दूर जाना है। यदि प्राचीन संन्यासियों का वेश धारण कर अर्थात् भस्म लगाकर और अर्धनग्न होकर वे कहीं विदेश को जाना चाहें, तो पहले तो जहाज पर ही उनको सवार नहीं होने देंगे। और यदि किसी प्रकार विदेश पहुँच भी जायँ, तो उनको कारागृह में अवस्थान करना होगा। देश, सभ्यता और समयोपयोगी कुछ कुछ परिवर्तन सभी विषयों में कर लेना पड़ेगा। अब मैं बंगला भाषा में लेख लिखने की सोच रहा हूँ।

सम्भव है कि साहित्यसेवक उसको पढ़कर निन्दा करें। करने दो—मैं बंगला भाषा को नवीन साँचे में ढालने का प्रयत्न अवश्य करूँगा। आजकल के लेखक जब लिखने बैठते हैं, तब क्रियापद का बहुत प्रयोग करते हैं। इससे भाषा में शक्ति नहीं आती। विशेषण द्वारा क्रियापदों का भाव प्रकट करने से भाषा की ओजस्विता अधिक बढ़ती है। अब से इस प्रकार लिखने की चेष्टा करो तो। 'उद्‌बोधन' में ऐसी ही भाषा में लेख लिखने का प्रयत्न करना। भाषा में क्रियापद प्रयोग करने का क्या तात्पर्य है जानते हो? इस प्रकार से भावों को विराम मिलता है। इसलिए अधिक क्रियापदों का प्रयोग करना शीघ्र शीघ्र श्वास लेने के समान दुर्बलता का चिह्न मात्र है। यही कारण है कि बंगला भाषा में अच्छी वक्तृताएँ नहीं दी जा सकतीं। जिनका किसी भाषा पर अच्छा अधिकार है, वे शीघ्रता से भावों को रोक नहीं देते। दाल भात का भोजन करके तेरा शरीर जैसे दुर्बल हो गया है, भाषा भी ठीक वैसी ही हो गयी है। खान-पान, चाल-चलन, भाव-भाषा सब में तेजस्विता लानी होगी। चारों ओर प्राण का संचार करना होगा। नस नस में रक्त का प्रवाह प्रेरित करना होगा, जिससे सब विषयों में एक प्राण का स्पन्दन अनुभव हो; तभी इस घोर जीवन-संग्राम में देश के लोग बच सकेंगे। नहीं तो शीघ्र ही यह देश और जाति मृत्यु की छाया में लय हो जायेंगे।

शिष्य—महाराज, बहुत दिनों से इस देश के लोगों का स्वभाव एक विशेष प्रकार का हो गया है। क्या उसके शीघ्र परिवर्तन की सम्भावना है?

स्वामीजी—यदि तुम प्राचीन चाल को बुरी समझते हो, तो मैंने जैसा बतलाया उस नवीन भाव को सीख क्यों नहीं लेते?

तुम्हें देखकर और भी दस-पाँच लोग वैसा ही करेंगे। फिर उनसे और पचास लोग सीखेंगे। इस प्रकार आगे चलकर जाति में वह नवीन भाव जाग उठेगा। यदि तुम जान बूझ कर भी ऐसा कार्य न करो तो मैं समझूँगा कि तुम केवल बातों में ही पण्डित हो और कार्य में मूर्ख।

शिष्य—आपके वचन से तो बड़े साहस का संचार होता है। उत्साह, बल और तेज से हृदय पूर्ण होता है।

स्वामीजी—हृदय में धीरे धीरे बल को लाना होगा। यदि एक भी यथार्थ 'मनुष्य' बन जाय तो लाख वक्तृताओं का फल होगा। मन और मुँह को एक करके भावों को जीवन में कार्यान्वित करना होगा। इसीको श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'भाव के घर में किसी प्रकार की चोरी न होने पाये।' सब विषयों में व्यावहारिक बनना होगा अर्थात् अपने अपने कार्य द्वारा मत या भाव का विकास करना होगा। केवल मतों के प्रादुर्भाव से ही देश दबा पड़ा है। श्रीरामकृष्ण के जो यथार्थ सन्तान होंगे, वे सब धर्मभावों को कार्यरूप में परिणत करने का उपाय दिखायेंगे। लोग या समाज की बातों पर ध्यान न देकर वे एकाग्र मन से अपना कार्य करते रहेंगे। तुलसीदासजी के दोहे में जो है, सो क्या तूने नहीं सुना ?

"हाथी चले बजार में कुत्ता भौंकें हजार।
साधुन को दुर्भाव नहीं, निन्दे चाहे संसार॥"

इसी भाव से चलना है। जनसाधारण को सामान्य कीड़ा-मकोड़ा समझना होगा। उसकी भली बुरी बातों को सुनने से जीवन भर में कोई किसी प्रकार का महत्-कार्य नहीं कर सकता। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् शरीर और मन में दृढ़ता न रहने से कोई भी इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रथम

पुष्टिकर उत्तम भोजन से शरीर को बलिष्ठ करना होगा तभी तो मन का बल बढ़ेगा। मन तो शरीर का ही सूक्ष्म अंश है। मन और मुख में खूब दृढ़ता होनी चाहिए। 'मैं हीन हूँ' 'मैं दीन हूँ' ऐसा कहते कहते मनुष्य वैसा ही हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—

"मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किम्वदन्तीति सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥"*

जिसके हृदय में मुक्ताभिमान सर्वदा जागृत है वह मुक्त हो जाता है और जो 'मैं बद्ध हूँ' ऐसी भावना रखता है, समझ लो कि उसकी जन्म-जन्मान्तर तक बद्ध दशा ही रहेगी। ऐहिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों में ही इस बात को सत्य जानना। इस जीवन में जो सर्वदा हताशचित्त रहते हैं, उनसे कोई भी कार्य नहीं हो सकता। वे जन्म जन्म 'हाय, हाय' करते हुए चले आते हैं और चले जाते हैं। 'वीरभोग्या वसुन्धरा,' अर्थात् वीर लोग ही वसुन्धरा का भोग करते हैं—यह वचन नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो 'अभीः' 'अभीः'—मैं भयशून्य हूँ, मैं भयशून्य हूँ। सब को सुनाओ, 'माभैः' 'माभैः' भय न करो, भय न करो। भय ही मृत्यु है, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार है। जगत् में जो कुछ असत् या मिथ्याभाव (negative thoughts) है, वह सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुआ है। इस भय ने ही सूर्य के सूर्यत्व को, वायु के वायुत्व को, यम के यमत्व को अपने अपने स्थान पर रख छोड़ा है, अपनी अपनी सीमा से किसी को बाहर नहीं जाने देता। इसलिए श्रुति कहती है—

---

* अष्टावक्र-संहिता

"भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥"*

जिस दिन इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण भयशून्य होंगे, उसी दिन सब ब्रह्म में लीन हो जायेंगे—सृष्टिरूप अध्यास का लय साधित होगा। इसीलिए कहता हूँ, 'अभीः' 'अभीः'।

बोलते बोलते स्वामीजी के वे नीलोत्पल नेत्र मानो अरुण रंग से रंजित हो गये। मानो "अभीः" मूर्तिमान होकर स्वामीरूप से शिष्य के सामने सदेह अवस्थान कर रहा था। शिष्य उस अभय-मूर्ति का दर्शन कर मन में सोचने लगा, "आश्चर्य! इन महापुरुष के पास रहने से और इनकी बातें सुनने से मानो मृत्यु-भय भी कहीं भाग जाता है।"

स्वामीजी फिर कहने लगे, "यह शरीर धारण कर तुम कितने ही सुख-दुःख तथा सम्पद-विपद की तरंगों में हिलाये जाओ, परन्तु ध्यान रखना वे सब केवल मुहूर्तस्थायी हैं। इन सब को अपने ध्यान में भी नहीं लाना। मैं अजर, अमर, चिन्मय आत्मा हूँ, इस भाव को दृढ़ता के साथ धारण कर जीवन बिताना होगा। 'मेरा जन्म नहीं है, मेरी मृत्यु नहीं है, मैं निर्लेप आत्मा हूँ' ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ। एक बार लीन हो जाने से दुःख या कष्ट के समय यह भाव अपने आप ही मन में उदय होगा, इसके लिए फिर चेष्टा करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी। कुछ ही दिन हुए मैं वैद्यनाथ देवघर में प्रियनाथ मुकर्जी के घर गया था। वहाँ ऐसी साँस उठी कि दम निकलने ही लगा परन्तु प्रत्येक श्वास के साथ भीतर से "सोऽहं सोऽहं" गम्भीर ध्वनि उठने लगी। तकिये का सहारा लेकर प्राणवायु निकलने की

* कठोपनिषद्

अपेक्षा कर रहा था और सुन रहा था कि भीतर केवल "सोऽहं सोऽहं" ध्वनि हो रही है; केवल यह सुनने लगा, "एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"

शिष्य स्तम्भित होकर बोला, "आपके साथ वार्तालाप करने से और आपकी सब अनुभूतियों को सुनने से शास्त्र पढ़ने की फिर आवश्यकता नहीं रहती।"

स्वामीजी---अरे नहीं, शास्त्रों को पढ़ना बहुत ही आवश्यक है। ज्ञान लाभ करने के लिए शास्त्र पढ़ने की बहुत जरूरत है। मैं मठ में शीघ्र ही शास्त्रादि पढ़ाने का आयोजन करूँगा। वेद, उपनिषद, गीता, भागवत पढ़ायी जायगी। अष्टाध्यायी पढ़ाऊँगा।

शिष्य---क्या आपने पाणिनि की अष्टाध्यायी पढ़ी है ?

स्वामीजी---जब जयपुर में था, तब एक बड़े भारी वैयाकरण के साथ साक्षात्कार हुआ। फिर उनसे व्याकरण पढ़ने की इच्छा हुई। व्याकरण के बड़े विद्वान होने पर भी, उनमें पढ़ाने की शक्ति बहुत नहीं थी। उन्होंने मुझे तीन दिन तक प्रथम सूत्र का भाष्य समझाया, फिर भी मैं उसकी धारणा नहीं कर सका। चौथे दिन अध्यापकजी विरक्त होकर बोले, 'स्वामीजी, जब तीन दिन में भी मैं प्रथम सूत्र का मर्म आपको नहीं समझा सका, तो अनुमान होता है कि मेरे पढ़ाने से आपको कोई लाभ नहीं होगा।' यह सुनकर मेरे मन में बड़ी भर्त्सना उठी। भोजन और निद्रा को त्यागकर प्रथम सूत्र का भाष्य अपने आप ही पढ़ने लगा। तीन घण्टे में उस सूत्रभाष्य का अर्थ मानो 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष हो गया। तत्पश्चात् अध्यापकजी के पास जाकर सब व्याख्याओं का तात्पर्य बातों में समझा दिया। अध्यापकजी सुनकर बोले, 'मैं तीन दिन से समझाकर जो न कर सका उसकी आपने

तीन घण्टे में ऐसी चमत्कारपूर्ण व्याख्या कैसे सीख ली ?' उस दिन से प्रतिदिन शीघ्र गति से अध्याय पर अध्याय पढ़ता चला गया। मन की एकाग्रता होने से सब सिद्ध हो जाता है—सुमेरु पर्वत को भी चूर्ण करना सम्भव है।

शिष्य—आपकी सभी बातें अद्‌भुत हैं।

स्वामीजी—'अद्‌भुत' स्वयं कोई विशेष बात नहीं है, अज्ञता ही अन्धकार है। इसमें सब कुछ ढके रहने के कारण अद्‌भुत जान पड़ता है। ज्ञानालोक से प्रकाशित होने पर फिर किसी में अद्‌भुतता नहीं रहती। अघटन-घटन-पटीयसी जो माया है, वह भी छिप जाती है। जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है, उसको जानो; उसके विषय पर चिन्तन करो। उस आत्मा के प्रत्यक्ष होने से शास्त्रों के अर्थ 'करामलकवत्' प्रत्यक्ष होंगे। जब प्राचीन ऋषियों को ऐसा हुआ था, तब हम लोगों को क्यों न होगा ? हम भी तो मनुष्य हैं। एक व्यक्ति के जीवन में जो एक बार हुआ है, चेष्टा करने से वह अवश्य ही औरों के जीवन में फिर सिद्ध होगा। History repeats itself अर्थात् जो एक बार हुआ है, वही बार बार होता है। यह आत्मा सर्व भूत में समान है, केवल प्रत्येक भूत में उसके विकास का तारतम्य मात्र है। इस आत्मा का विकास करने की चेष्टा करो। देखोगे कि बुद्धि सब विषयों में प्रवेश करेगी। अनात्मज्ञ पुरुषों की बुद्धि एकदेश-दर्शिनी होती है। आत्मज्ञ पुरुषों की बुद्धि सर्वग्रासिनी होती है। आत्म-प्रकाश होने से, देखोगे कि दर्शन, विज्ञान सब तुम्हारे आधीन हो जायेंगे। सिंहगर्जन से आत्मा की महिमा की घोषणा करो। जीव को अभय देकर कहो, 'उत्तिष्ठित जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' **'Arise, awake and stop not till the goal is reached'.**

परिच्छेद १८

स्थान—बेलुड़—किराये का मठ

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—निर्विकल्प समाधि पर स्वामीजी का व्याख्यान—इस समाधि से कौन लोग फिर संसार में लौटकर आ सकते हैं—अवतारी पुरुषों की अद्‌भुत शक्ति पर व्याख्यान और उस विषय पर युक्ति व प्रमाण—शिष्य द्वारा स्वामीजी की पूजा।

आज दो दिन से शिष्य बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के भवन में स्वामीजी के पास है। कलकत्ते से अनेक युवकों का इस समय स्वामीजी के पास आना जाना रहने के कारण आजकल मानो मठ में बड़ा उत्सव हो रहा है। कितनी धर्म-चर्चा, कितना साधन-भजन का उद्यम तथा दीनदुखियों का कष्ट दूर करने के कितने ही उपायों की आलोचना हो रही है! कितने ही उत्साही संन्यासी महादेवजी के गणों के समान स्वामीजी की आज्ञा का पालन करने को उत्सुकता के साथ खड़े हैं। स्वामी प्रेमानन्दजी ने श्रीरामकृष्ण की सेवा का भार ग्रहण किया है। मठ में पूजा और प्रसाद के लिए बड़ा आयोजन है। समागत सज्जनों के लिए प्रसाद सर्वदा तैयार है।

आज स्वामीजी ने शिष्य को अपने कमरे में रात को रहने की आज्ञा दी है। स्वामीजी की सेवा करने का अधिकार पाकर शिष्य का हृदय आज आनन्द से परिपूर्ण है। प्रसाद पाकर वह स्वामीजी की चरणसेवा कर रहा है। इतने में स्वामीजी बोले, "ऐसे स्थान को छोड़कर तुम कलकत्ता जाना चाहते हो? यहाँ कैसा पवित्र

भाव, कैसी गंगाजी की वायु, कैसा सब साधुओं का समागम है ! ऐसा स्थान क्या और कहीं ढूंढ़ने से मिलेगा ?"

शिष्य—महाराज, बहुत जन्मों की तपस्या से आपका सत्संग मुझे मिला है। अब कृपया ऐसा उपाय कीजिये जिससे मैं फिर मायामोह में न फँसूं। अब प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए मन कभी कभी बड़ा व्याकुल हो उठता है।

स्वामीजी—मेरी भी अवस्था ऐसी ही हुई थी। काशीपुर के उद्यान में एक दिन श्रीगुरुदेव से बडी व्याकुलता से अपनी प्रार्थना प्रकट की थी। उस दिन सन्ध्या के समय ध्यान करते करते अपने शरीर को खोजा, तो नहीं पाया। ऐसा प्रतीत हुआ कि शरीर बिलकुल है ही नहीं। चन्द्र, सूर्य, देश, काल, आकाश सब मानो एकाकार होकर कहीं लय हो गये हैं। देहादि बुद्धि का प्राय: अभाव हो गया था और 'मैं' भी बस लय-सा ही हो रहा था ! परन्तु कुछ 'अहं' था, इसीलिए उस समाधि-अवस्था से लौट आया था। इस प्रकार समाधिकाल में ही 'मैं' और 'ब्रह्म' में भेद नहीं रहता, सब एक हो जाता है; मानो महासमुद्र—जल ही जल और कुछ नहीं हैं; भाव और भाषा का अन्त हो जाता है। 'अवाङ्मनसोगोचरम्' जो शास्त्र-वाक्य है, उसकी उपलब्धि इसी समय होती है। नहीं तो जब साधक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा विचार करता है या कहता है तब भी 'मैं' और 'ब्रह्म' ये दो पदार्थ पृथक् रहते हैं अर्थात् द्वैतबोध रहता है। उसी अवस्था को फिर प्राप्त करने की मैंने बारम्बार चेष्टा की, परन्तु पा न सका। श्रीगुरुदेव से कहने पर वे बोले, 'उस अवस्था में दिनरात रहने से माता भगवती का कार्य तुमसे नहीं होगा। इसलिए उस अवस्था को फिर प्राप्त न कर सकोगे; कार्य का अन्त होने पर वह अवस्था

फिर आ जायगी।'

शिष्य—तो क्या निःशेष समाधि या ठीक ठीक निर्विकल्प समाधि होने पर, कोई फिर अहंज्ञान का आश्रय लेकर द्वैतभाव के राज्य में—इस संसार में—नहीं लौट सकता ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि एकमात्र अवतारी पुरुष ही जीव की मंगल कामना कर ऐसी समाधि से लौट सकते हैं। साधारण जीवों का फिर व्युत्थान नहीं होता; केवल इक्कीस दिन तक जीवित अवस्था में रहने के बाद उनके शरीर सूखे पत्ते के समान संसाररूपी वृक्ष से झड़कर गिर पड़ते हैं।

शिष्य—मन के विलुप्त होने पर जब समाधि होती है, मन की जब कोई लहर नहीं रह जाती, तब फिर विक्षेप अर्थात् अहंज्ञान का आश्रय लेकर संसार में लौटने की क्या सम्भावना है ? जब मन ही नहीं रहा तब कौन या किसलिए समाधि अवस्था को छोड़कर द्वैतराज्य में उतरकर आयगा ?

स्वामीजी—वेदान्तशास्त्रों का अभिप्राय यह है कि निःशेष निरोधसमाधि से पुनरावृत्ति नहीं होती; यथा—'अनावृत्तिः शब्दात्।' परन्तु अवतारी लोग जीवों के मंगल के निमित्त एकआध सामान्य वासना रख लेते हैं। उसी आश्रय से ज्ञानातीत अद्वैतभूमि (superconscious state) से 'मैं-तुम' की ज्ञानमूलक द्वैतभूमि (conscious state) में आते हैं।

शिष्य—किन्तु महाराज, यदि एकआध वासना भी रह जाय, तो उसे निःशेष निरोध समाधि अवस्था कैसे कह सकते हैं ? क्योंकि शास्त्र में कहा है कि निःशेष निर्विकल्प समाधि में मन की सब वृत्तियाँ, सब वासनाएँ निरुद्ध या ध्वंस हो जाती हैं।

स्वामीजी—महाप्रलय के पश्चात् तो फिर सृष्टि ही कैसे होती

है ? महाप्रलय में भी तो सब कुछ ब्रह्म में लय हो जाता है। परन्तु लय होने पर भी शास्त्र में सृष्टिप्रसंग सुनने में आता है—सृष्टि और लय प्रवाहाकार से पुनः चलते रहते हैं। महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि और लय के पुनरावर्तन के समान अवतारी पुरुषों का निरोध और व्युत्थान भी अप्रासंगिक क्यों होगा ?

शिष्य—क्या यह नहीं हो सकता है कि लयकाल में पुनः सृष्टि का बीज ब्रह्म में लीनप्राय रहता है और वह महाप्रलय या निरोध समाधि नहीं है, वरन् वह केवल सृष्टि का बीज तथा शक्ति का (आप जैसा कहते हैं) एक अव्यक्त (potential) आकार मात्र धारण करना है।

स्वामीजी—इसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जिस ब्रह्म में किसी गुण का अस्तित्व नहीं है, जो निर्लेप और निर्गुण है, उसके द्वारा इस सृष्टि का बहिर्गत (projected) होना कैसे सम्भव है।

शिष्य—यह बहिर्गमन (projection) तो यथार्थ नहीं। आपके वचन के उत्तर में शास्त्र ने कहा है कि ब्रह्म से सृष्टि का विकास मरुस्थल में मृगजल के समान दिखायी देता है, परन्तु वास्तव में सृष्टि आदि कुछ भी नहीं है। भाव-वस्तु ब्रह्म में अभाव-मिथ्या-रूप माया के कारण ऐसा भ्रम दिखायी देता है।

स्वामीजी—यदि सृष्टि ही मिथ्या है, तो तुम जीव की निर्विकल्प समाधि और समाधि से व्युत्थान को भी मिथ्या कहकर मान सकते हो। जीव स्वतः ही ब्रह्मस्वरूप है। उसके फिर बन्धन की अनुभूति कैसी ? 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा जो तुम अनुभव करना चाहते हो, वह भी तो भ्रम ही हुआ, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि तुम तो पहले से ही ब्रह्म हो। अतएव 'अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि'—समाधिलाभ करना जो तुम चाहते हो, वही

तुम्हारा बन्धन है।

शिष्य—यह तो बड़ी कठिन बात है। यदि मैं ब्रह्म ही हूँ, तो सर्वदा इस विषय की अनुभूति क्यों नहीं होती ?

स्वामीजी—यदि 'मैं-तुम' के राज्य द्वैत-भूमि (conscious plane) में इस बात का अनुभव करना हो, तो एक करण या जिससे अनुभव हो सके, ऐसे एक पदार्थ (some instrumentality) की आवश्यकता है। मन ही हमारा वह करण है, परन्तु मन पदार्थ तो जड़ है। उसके पीछे जो आत्मा है उसकी प्रभा से मन चैतन्यवत् केवल प्रतीत होता है। इसलिए पंचदशीकार ने कहा है, 'चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा' अर्थात् चित्स्वरूप आत्मा की परछाईं या प्रतिबिम्ब के आवेश से शक्ति को चैतन्यमयी कहकर अनुमान करते हैं और इसीलिए मन को भी चेतन पदार्थ कहकर मानते हैं। अतएव यह निश्चित है कि मन के द्वारा शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को नहीं जान सकते। मन के परे पहुँचना है। मन के परे तो कोई करण नहीं है—एक आत्मा ही है। अतएव जिसको जानना चाहते हो, वही फिर करणस्थानीय हो जाता है। कर्ता, कर्म, करण सब एक हो जाता है। इसीलिए श्रुति कहती है, 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'। इसका निचोड़ यह है कि द्वैतभूमि (conscious plane) के ऊपर ऐसी एक अवस्था है जहाँ कर्ता, कर्म, करणादि में कोई द्वैतभाव नहीं है। मन के निरोध होने से वह प्रत्यक्ष होती है। और कोई उचित भाषा न होने के कारण इस अवस्था को 'प्रत्यक्ष करना' कह रहा हूँ; नहीं तो इस अनुभव को प्रकाशित करने के लिए कोई भाषा नहीं है। श्रीशंकराचार्य इसको 'अपरोक्षानुभूति' कह गये हैं। ऐसी प्रत्यक्षानुभूति या अपरोक्षानुभूति होने पर भी अवतारी लोग नीचे

द्वैतभूमि पर उतरकर उसकी कुछ कुछ झलक दिखा देते हैं। इसीलिए कहते हैं कि आप्तपुरुषों के अनुभव से ही वेदादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई है। साधारण जीवों की अवस्था उस नमक के पुतले के समान है, जो समुद्र को नापने गया था और स्वयं ही उसमें घुल गया, समझे न? तात्पर्य यह है कि तुम्हें इतना ही जानना होगा कि तुम वही नित्य ब्रह्म हो। तुम तो पहले से ही वह हो, केवल एक जड़ मन (जिसको शास्त्र ने माया कहा है) बीच में पड़कर तुम्हें इसको समझने नहीं देता। सूक्ष्म जड़रूप उपादानों द्वारा निर्मित मन नामक पदार्थ के प्रशमित होने पर आत्मा अपनी प्रभा से आप ही उद्भासित होती है। यह माया और मन मिथ्या है, इसका एक प्रमाण यह है कि मन स्वयं जड़ और अन्धकारस्वरूप है जो इसके पीछे विद्यमान आत्मा की प्रभा से चैतन्यवत् प्रतीत होता है। जब इसको समझ जाओगे तो एक अखण्ड चैतन्य में मन लय हो जायगा; तभी 'अयआत्मा ब्रह्म' की अनुभूति होगी।

यहाँ पर स्वामीजी बोले, "क्या तुझे नींद आ रही है? तो जा सो जा।" शिष्य स्वामीजी के पास के ही बिछौने पर सो गया। रात में स्वामीजी नींद अच्छी न आने के कारण बीच बीच में उठकर बैठने लगे। शिष्य भी उठकर उनकी आवश्यक सेवा करने लगा। इस प्रकार रात बीत गयी, पर रात्रि के अन्तिम प्रहर में एक अद्भुत-सा स्वप्न देखकर निद्रा भंग होने पर वह बड़े आनन्द से उठा। प्रातःकाल गंगास्नान करके जब शिष्य आया, तो देखा कि स्वामीजी मठ के निचले मंजिल में एक बेंच पर पूर्व की ओर मुँह किये बैठे हैं। रात्रि के स्वप्न को स्मरण कर स्वामीजी के चरणकमलों के पूजन के लिए उसका मन व्याकुल हुआ और उसने

अपना अभिप्राय प्रकट कर उनकी अनुमति के लिए प्रार्थना की। उसकी व्याकुलता को देख स्वामीजी सम्मत हो गये; फिर शिष्य ने कुछ धतूरे के फूल संग्रह किये और स्वामीजी के शरीर में महाशिव के अधिष्ठान का ध्यान करके विधिपूर्वक उनकी पूजा की।

पूजा के अन्त में स्वामीजी शिष्य से बोले, "तूने तो पूजा कर ली, परन्तु बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्दजी) आकर तुझे खा जायगा! तूने कैसे श्रीरामकृष्ण के पूजापात्र में मेरे पाँव को रखकर पूजा?" ये बातें हो ही रही थीं कि स्वामी प्रेमानन्दजी वहाँ आ पहुँचे और स्वामीजी उनसे बोले, "देखो, आज इसने कैसा एक काण्ड रचा है! श्रीरामकृष्ण के पूजापात्र में फूलचन्दन लेकर इसने मेरी पूजा की।" स्वामी प्रेमानन्दजी हँसने लगे और बोले, "बहुत अच्छा किया, तुम और श्रीरामकृष्ण क्या अलग अलग हो?" यह बात सुनकर शिष्य निर्भय हो गया।

शिष्य एक कट्टर हिन्दू था। अखाद्य का तो कहना ही क्या, किसी का छुआ हुआ द्रव्य तक भी ग्रहण नहीं करता था, इसलिए स्वामीजी उसको कभी कभी 'पण्डितजी' कहकर पुकारते थे। प्रातःकालीन जलपान के समय विलायती बिस्कुट इत्यादि खाते खाते स्वामीजी स्वामी सदानन्द से बोले, "जाओ, 'पण्डितजी' को तो पकड़ लाओ।" आदेश पाकर शिष्य के वहाँ पहुँचते ही स्वामीजी ने शिष्य को इन द्रव्यों में से थोड़ा थोड़ा प्रसादरूप से खाने को दिया। बिना दुविधा में पड़े शिष्य को वह सब ग्रहण करते देखकर स्वामीजी हँसते हुए बोले, "आज तुमने क्या खाया जानते हो? ये सब मुर्गी के अण्डे से बनी हुई हैं।" इसके उत्तर में उसने कहा, "जो भी हो मुझे जानने की कोई आवश्यकता नहीं, आपके प्रसाद-रूप अमृत को खाकर मैं तो अमर हो गया।" यह सुनकर स्वामीजी

बोले, "मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आज से तुम्हारी जाति, वर्ण, आभिजात्य, पाप, पुण्यादि अभिमान सदा के लिए दूर हो जायें।"

स्वामीजी की उस दिन की अयाचित अपार दया को स्मरण कर शिष्य समझता है कि उसका मानवजन्म सार्थक हो गया।

तीसरे पहर अकाउन्टन्ट जनरल बाबू मन्मथनाथ भट्टाचार्य स्वामीजी के पास आये। अमरीका जाने से पहले स्वामीजी मद्रास में इन्हीं के भवन में अतिथि होकर बहुत दिन रहे थे और तभी से वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धा-भक्ति रखते थे। भट्टाचार्य महाशय पाश्चात्य देश और भारतवर्ष के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करने लगे। स्वामीजी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर देकर और अनेक प्रकार से सत्कार करके कहा, "एक दिन तो यहाँ ठहर ही जाइये" मन्मथ बाबू यह कहकर कि "और किसी दिन आकर ठहरूँगा।" बिदा हुए और सीढ़ियों से नीचे उतरते समय किसी एक मित्र से कहने लगे, "हम यह मद्रास में पहले ही जान गये थे कि वे पृथ्वी पर एक महान् कार्य किये बिना न रहेंगे। ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा मनुष्य में तो पायी नहीं जाती।"

स्वामीजी ने मन्मथ बाबू के साथ गंगा के किनारे तक जाकर उनको अभिवादन करके बिदा किया और कुछ देर तक मैदान में टहलकर अपने कमरे में विश्राम करने के लिए चले गये।

परिच्छेद १९

स्थल—बेलुड़; किराये का मठ-भवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—स्वामीजी द्वारा शिष्य को व्यापार वाणिज्य करने के लिए प्रोत्साहित करना—श्रद्धा व आत्मविश्वास न होने के कारण ही इस देश के मध्यम श्रेणी के लोगों की दुर्दशा—इंग्लैण्ड में नौकरीपेशा लोगों को छोटा मानकर उनके प्रति जनता की घृणा—भारत में शिक्षा के अभिमानी व्यक्तियों की निष्क्रियता—वास्तविक शिक्षा किसे कहते हैं—दूसरे देशों के निवासियों की क्रियाशीलता और आत्मविश्वास—भारत के उच्च जातीय लोगों की तुलना में निम्नजातीय लोगों की जागृति तथा उनका उच्च जाति के लोगों से अपने अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न—उच्च जाति के लोग इस विषय में यदि उनकी सहायता करें तो भविष्य में दोनों जातियों का लाभ—निम्नजातियों के व्यक्तियों को यदि गीता के उपदेश के अनुसार शिक्षा दी जाय तो वे अपने अपने जातीय कर्मों का त्याग न करके उन्हें और भी गौरव के साथ करते रहेंगे—यदि उच्चवर्गीय व्यक्ति इस समय इस प्रकार निम्नजातियों की सहायता न करेंगे तो उनके भविष्य के निश्चय ही अन्धकारपूर्ण होने की सम्भावना।

शिष्य आज प्रातःकाल मठ में आया है। स्वामीजी के चरण-कमलों की वन्दना करके खड़े होते ही स्वामीजी बोले, "नौकरी ही करते रहने से क्या होगा। कोई व्यापार क्यों नहीं करते?" शिष्य उस समय एक स्थान पर एक गृहशिक्षक का कार्य करता था। उस समय तक उसके सिर पर परिवार का भार न था। आनन्द से दिन बीतते थे। शिक्षक के कार्य के सम्बन्ध में शिष्य ने पूछा तब स्वामीजी ने कहा, "बहुत दिनों तक मास्टरी करने से

बुद्धि बिगड़ जाती है। ज्ञान का विकास नहीं होता। दिनरात लड़कों के बीच रहने से धीरे धीरे जड़ता आ जाती है; इसलिए आगे अब अधिक मास्टरी न कर।"

शिष्य--तो क्या करूँ ?

स्वामीजी--क्यों ? यदि तुझे गृहस्थी ही करनी है और यदि धन कमाने की आकांक्षा है, तो जा अमरीका में चला जा। मैं व्यापार का उपाय बता दूंगा। देखना पाँच वर्षों में कितना धन कमा लेगा।

शिष्य--कौनसा व्यापार करूँगा ? और उसके लिए धन कहाँ से आयगा ?

स्वामीजी--पागल की तरह क्या बकता है ? तेरे भीतर अदम्य शक्ति है। तू तो 'मैं कुछ नहीं' सोच सोच कर वीर्यविहीन बना जा रहा है। तू ही क्यों ?--सारी जाति ही ऐसी बन गयी है। जा एक बार घूम आ; देखेगा भारतवर्ष के बाहर लोगों का 'जीवन-प्रवाह' कैसे आनन्द से, सरलता से, प्रबल वेग के साथ बहता जा रहा है। और तुम लोग क्या कर रहे हो ? इतनी विद्या सीख कर दूसरों के दरवाजे पर भिखारी की तरह 'नौकरी दो, नौकरी दो' कहकर चिल्ला रहे हो। दूसरों की ठोकरें खाते हुए--गुलामी करके भी तुम लोग क्या अभी मनुष्य रह गये हो ? तुम लोगों का मूल्य एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। ऐसी सुजला सुफला भूमि, जहाँ पर प्रकृति अन्य सभी देशों से करोड़ों गुना अधिक धनधान्य पैदा कर रही है, वहाँ पर जन्म लेकर भी तुम लोगों के पेट में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं ! जिस देश के धनधान्य ने पृथ्वी के अन्य सभी देशों में सभ्यता का विस्तार किया है, उसी अन्नपूर्णा के देश में तुम लोगों की ऐसी दुर्दशा ! तुम लोग घृणित कुत्तों से

भी बदतर हो गये हो ! और फिर भी अपने वेद-वेदान्त की डींग हाँकते हो ! जो राष्ट्र आवश्यक अन्न-वस्त्र का भी प्रबन्ध नहीं कर सकता और दूसरों के मुँह की ओर ताक कर ही जीवन व्यतीत कर रहा है उस राष्ट्र का यह गर्व ! धर्म-कर्मों को तिलांजलि देकर पहले जीवनसंग्राम में कूद पड़ो। भारत में कितनी चीजें पैदा होती हैं। विदेशी लोग उसी कच्चे माल के द्वारा 'सोना' पैदा कर रहे हैं। और तुम लोग बोझ ढोनेवाले गधों की तरह उनके सामानों को उठाते उठाते मरे जा रहे हो। भारत में जो चीजें उत्पन्न होती हैं, विदेशी उन्हीं को ले जाकर अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की चीजें बनाकर सम्पत्तिशाली बन गये; और तुम लोग ! अपनी बुद्धि सन्दूक में बन्द करके घर का धन दूसरों को देकर 'हा अन्न' 'हा अन्न' करके भटक रहे हो !

शिष्य---अन्न-समस्या कैसे हल हो सकती है, महाराज ?

स्वामीजी---उपाय तुम्हारे ही हाथों में है। आँखों पर पट्टी बाँधकर कह रहे हो, 'मैं अन्धा हूँ, कुछ देख नहीं सकता !' आँख पर की पट्टी अलग कर दो, देखोगे---दोपहर के सूर्य की किरणों से जगत् आलोकित हो रहा है। रुपया इकट्ठा नहीं कर सकता, तो जहाज का मजदूर बनकर विदेश में चला जा। देशी वस्त्र, गमछा, सूप, झाड़ू सिर पर रखकर अमरीका और यूरोप की सड़कों और गलियों में घूम घूम कर बेच। देखेगा भारत में उत्पन्न चीजों का आज भी वहाँ कितना मूल्य है। हुगली जिले के कुछ मुसलमान अमरीका में ऐसा ही व्यापार कर धनवान बन गये हैं। क्या तुम लोगों की विद्या बुद्धि उनसे भी कम है ? देखना इस देश में जो बनारसी साड़ी बनती है, उसके समान बढ़िया कपड़ा पृथ्वी भर में और कहीं नहीं बनता। इस कपड़े को लेकर अमरीका

में चला जा। उस देश में इस कपड़े से स्त्रियों के गाउन तैयार करने लग जा, फिर देख कितने रुपये आते हैं।

शिष्य---महाराज, वे लोग क्या बनारसी साड़ी का गाउन पहनेंगी ? सुना है, रंग बिरंगे कपड़े उनके देश की औरतें पसन्द नहीं करतीं।

स्वामीजी---लेंगे या नहीं, यह मैं देखूंगा। हिम्मत करके चला तो जा ! उस देश में मेरे अनेक मित्र हैं। मैं उनसे तेरा परिचय करा दूंगा। आरम्भ में कह सुनकर उनमें उन चीजों का प्रचार करा दूंगा। उसके बाद देखेगा, कितने लोग उनकी नकल करते हैं। तब तो तू उनकी मांग की पूर्ति करने में भी अपने को असमर्थ पायगा।

शिष्य---पर व्यापार करने के लिए मूलधन कहाँ से आयगा ?

स्वामीजी---मैं किसी न किसी तरह तेरा काम शुरू करा दूंगा। परन्तु उसके बाद तुझे अपने ही प्रयत्न पर निर्भर रहना होगा। 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'---इस प्रयत्न में यदि तू मर भी जायगा तो भी बुरा नहीं। तुझे देखकर और दूसरे दस व्यक्ति आगे बढ़ेंगे। और यदि सफलता प्राप्त हो गयी, तो फिर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

शिष्य---परन्तु महाराज, साहस नहीं होता।

स्वामीजी---इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि भाई, तुममें श्रद्धा नहीं है---आत्मविश्वास भी नहीं। क्या होगा तुम लोगों का ? न तो तुमसे गृहस्थी होगी और न धर्म ही। या तो इस प्रकार के उद्योगधन्धे करके संसार में यशस्वी, सम्पत्तिशाली बन, या सब कुछ छोड़-छाड़ कर हमारे पथ का अनुसरण करके लोगों को धर्म का उपदेश देकर उनका उपकार कर; तभी तू हमारी तरह भिक्षा

पा सकेगा। लेन-देन न रहने पर कोई किसी की ओर नहीं ताकता। देख तो रहा है; हम धर्म की दो बातें सुनाते हैं, इसीलिए गृहस्थ लोग हमें अन्न के दो दाने दे रहे हैं। तुम लोग कुछ भी न करोगे, तो लोग तुम्हें अन्न भी क्यों देंगे? नौकरी में, गुलामी में इतना दुःख देखकर भी तुम लोग सचेत नहीं हो रहे हो! इसीलिए दुःख भी दूर नहीं हो रहा है। यह अवश्य ही दैवी माया का छल है। उस देश में मैंने देखा, जो लोग नौकरी करते हैं उनका स्थान पार्लमेंट (राष्ट्रीय सभा) में बहुत पीछे होता है। पर जो लोग प्रयत्न करके विद्या-बुद्धि द्वारा स्वनामधन्य हो गये हैं उनके बैठने के लिए सामने की सीटें रहती हैं। उन सब देशों में जाति-भेद का झंझट नहीं है। उद्यम व परिश्रम द्वारा जिन पर भाग्य-लक्ष्मी प्रसन्न है, वे ही देश के नेता और नियन्ता माने जाते हैं। और तुम्हारे देश में जातिपाँति का मिथ्याभिमान है, इसीलिए तुम्हें अन्न तक नसीब नहीं। तुममें एक सुई तक तैयार करने की योग्यता नहीं है और फिर तुम लोग अंग्रेजों के गुणदोषों की आलोचना करने को उद्यत होते हो! मूर्ख! जा उनके पैरों पड़; जीवनसंग्राम के उपयुक्त विद्या, शिल्पविज्ञान और क्रियाशीलता सीख, तभी तू योग्य बनेगा और तभी तुम लोगों का सम्मान होगा। वे भी उस समय तुम्हारी बात मानेंगे। केवल कांग्रेस बनाकर चिल्लाने से क्या होगा?

शिष्य—परन्तु महाराज, देश के सभी शिक्षित लोग उसमें सम्मिलित हो रहे हैं।

स्वामीजी—कुछ उपाधियाँ प्राप्त करने या अच्छा भाषण दे सकने से ही क्या तुम्हारी दृष्टि में वे शिक्षित हो गये! जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवनसंग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो

मनुष्य में चरित्र-बल, परहित-भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी कोई शिक्षा है? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है, वही है शिक्षा। आजकल के इन सब स्कूल-कालेजों में पढ़कर तुम लोग न जाने कैसी एक प्रकार के अजीर्ण के रोगियों की जमात तैयार कर रहे हो। केवल मशीन की तरह परिश्रम कर रहे हो और 'जायस्व म्रियस्व' इस वाक्य के साक्षी रूप में खड़े हो! ये जो किसान, मजदूर, मोची, मेहतर आदि हैं इनकी कर्मशीलता और आत्म-निष्ठा तुममें से कई लोगों से काफी अधिक है। ये लोग चिरकाल से चुपचाप काम किये जा रहे हैं, देश का धन-धान्य उत्पन्न कर रहे हैं, पर अपने मुँह से कभी आवाज नहीं निकालते। ये लोग शीघ्र ही तुम लोगों से ऊपर उठ जायेंगे। धन उनके हाथ में चला जा रहा है —तुम्हारी तरह उनमें कमी नहीं है। वर्तमान शिक्षा से तुम्हारा सिर्फ बाहरी परिवर्तन होता जा रहा है—परन्तु नयी नयी उद्भावनी शक्ति के अभाव के कारण तुम लोगों को धन कमाने का उपाय उपलब्ध नहीं हो रहा है। तुम लोगों ने इतने दिन इन सब सहनशील निम्नजातियों पर अत्याचार किया है। अब ये लोग उसका बदला लेंगे और तुम लोग 'हा! नौकरी' 'हा! नौकरी' करके लुप्त हो जाओगे।

शिष्य—महाराज, दूसरे देशों की तुलना में हमारी उद्भावनी शक्ति कम होने पर भी भारत की अन्य सभी जातियाँ तो हमारी बुद्धि द्वारा ही संचालित हो रही हैं। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जातियों को जीवनसंग्राम में पराजित कर सकने की शक्ति और शिक्षा अन्य जातियाँ कहाँ से पायेंगी?

स्वामीजी—माना कि उन्होंने तुम लोगों की तरह पुस्तकें नहीं

पढ़ी हैं, तुम्हारी तरह कोट कमीज पहनकर सभ्य बनना उन्होंने नहीं सीखा, पर इससे क्या होता है ? वास्तव में वे ही राष्ट्र की रीढ़ हैं। यदि ये निम्नश्रेणियों के लोग अपना अपना काम करना बन्द कर दें तो तुम लोगों को अन्न-वस्त्र मिलना कठिन हो जाय ! कलकत्ते में यदि मेहतर लोग एक दिन के लिए काम बन्द कर देते हैं तो 'हाय तोबा' मच जाती है। यदि तीन दिन वे काम बन्द कर दें तो सांक्रमिक रोग से शहर बर्बाद हो जाय ! श्रमिकों के काम बन्द करने पर तुम्हें अन्न-वस्त्र नहीं मिल सकते। इन्हें ही तुम लोग नीच समझ रहे हो और अपने को शिक्षित मानकर अभिमान कर रहे हो।

जीवनसंग्राम में सदा लगे रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों में अभी तक ज्ञान का विकास नहीं हुआ। ये लोग अभी तक मानव बुद्धि द्वारा परिचालित यन्त्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार तथा निचोड़ लेते रहे हैं। सभी देशों में इसी प्रकार हुआ है। परन्तु अब वे दिन नहीं रहे। निम्न श्रेणी के लोग धीरे धीरे यह बात समझ रहे हैं और इसके विरुद्ध सब सम्मिलित रूप से खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो गये हैं। यूरोप और अमरीका में निम्न जातीय लोगों ने जागृत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दिया है, और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा आजकल जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वह इनकी इसी जागृति का प्रमाण है। अब हजार प्रयत्न करके भी उच्च जाति के लोग निम्न श्रेणियों को अधिक दबाकर नहीं रख सकेंगे। अब निम्न श्रेणियों के न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति

में सहायता करने में ही उच्च श्रेणियों का भला है।

इसीलिए कहता हूँ कि तुम लोग ऐसे काम में लग जाओ, जिससे साधारण श्रेणी के लोगों में विद्या का विकास हो। इन्हें जाकर समझा कर कहो—'तुम हमारे भाई हो—हमारे शरीर के अंग हो—हम तुमसे प्रेम करते हैं—घृणा नहीं।' तुम लोगों की यह सहानुभूति पाने पर ये लोग सौ गुने उत्साह के साथ काम करने लगेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनमें ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व इन्हें सिखा दो। उससे शिक्षकों की भी दरिद्रता मिट जायगी और लेन-देन से दोनों आपस में मित्र जैसे बन जायेंगे।

शिष्य—परन्तु महाराज, इनमें शिक्षा का प्रचार होने पर ये लोग भी तो फिर समय आने पर हमारी ही तरह बुद्धिमान किन्तु निश्चेष्ट तथा आलसी बनकर अपने से निम्न श्रेणी के लोगों के परिश्रम से लाभ उठाने लग जायेंगे।

स्वामीजी—ऐसा क्यों होगा? ज्ञान का विकास होने पर भी कुम्हार कुम्हार ही रहेगा—मछुआ मछुआ ही बना रहेगा—किसान खेती का ही काम करेगा। कोई अपना जातीय धन्धा क्यों छोड़ेगा? 'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्'—इस भाव से शिक्षा पाने पर वे लोग अपने अपने व्यवसाय क्यों छोड़ेंगे? विद्या के बल से अपनी जाति के कर्म को और भी अच्छी तरह से करने का प्रयत्न करेंगे। समय पर उनमें से दस-पाँच प्रतिभाशाली व्यक्ति अवश्य उठ खड़े होंगे। उन्हें तुम अपनी उच्च श्रेणी में सम्मिलित कर लोगे। तेजस्वी विश्वामित्र को जो ब्राह्मणों ने ब्राह्मण मान लिया था इससे क्षत्रिय जाति ब्राह्मणों के प्रति

कितनी कृतज्ञ हुई थी—कहो तो ? उसी प्रकार सहानुभूति और सहायता प्राप्त करने पर मनुष्य तो दूर रहा, पशु पक्षी भी अपने बन जाते हैं।

शिष्य—महाराज, आप जो कुछ कह रहे हैं वह सत्य तो है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी भी उच्च तथा निम्न श्रेणी के लोगों में बड़ा अन्तर है। भारतवर्ष की निम्न जातियों के प्रति उच्च श्रेणी के लोगों में सहानुभूति की भावना लाना बड़ा ही कठिन काम ज्ञात होता है।

स्वामीजी—परन्तु ऐसा न होने से तुम्हारा (उच्च जातियों का) भला नहीं है। तुम लोग हमेशा से जो कुछ करते आ रहे हो, वह तुम्हारा पृथकता का प्रयत्न रहा है। आपस की मारकाट ही करते हुए मर मिटोगे ! ये निम्न श्रेणी के लोग जब जाग उठेंगे और अपने ऊपर होने वाले तुम लोगों के अत्याचारों को समझ लेंगे, तब उनकी फूक से ही तुम लोग उड़ जाओगे ! उन्हींने तुम्हें सभ्य बनाया है, उस समय वे ही सब कुछ मिटा देंगे। सोचकर देखो न—रोमन सभ्यता गॉल जाति के पंजे में पड़कर कहाँ चली गयी। इसीलिए कहता हूँ, इन सब निम्नजाति के लोगों को विद्यादान, ज्ञानदान देकर इन्हें नींद से जगाने के लिए सचेष्ट हो जाओ ! जब वे लोग जागेंगे—और एक दिन वे अवश्य जागेंगे—तब वे भी तुम लोगों के किये उपकारों को नहीं भूलेंगे और तुम लोगों के प्रति कृतज्ञ रहेंगे।

इस प्रकार वार्तालाप के बाद स्वामीजी ने शिष्य से कहा—ये सब बातें अब रहने दे, तूने अब क्या निश्चय किया, कह। मैं तो कहता हूँ, जो कुछ भी हो, तू कुछ कर अवश्य। या तो किसी व्यापार के लिए चेष्टा कर, नहीं तो हम लोगों की तरह

'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'—यथार्थ संन्यास के पथ का अनुसरण कर। यह अन्तिम पथ ही निस्सन्देह श्रेष्ठ पथ है, व्यर्थ ही गृहस्थ बनने से क्या होगा? समझा न, सभी क्षणिक है—'नलिनीदलगतजलमतितरलं, तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।' अतः यदि इसी आत्मविश्वास को प्राप्त करने को उत्कण्ठित है, तो फिर समय न गँवा! आगे बढ़। 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।' दूसरों के लिए अपने जीवन का बलिदान देकर लोगों के द्वार द्वार पर जाकर यह अभय वाणी सुना—

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'

परिच्छेद २०

स्थान—बेलुड़, किराये का मठभवन

वर्ष—१८९८ ईसवी

विषय—"उद्बोधन" पत्र की स्थापना—इस पत्र के लिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी का अमित कष्ट तथा त्याग—स्वामीजी का इस पत्र को प्रकाशित करने का उद्देश—श्रीरामकृष्ण की संन्यासी सन्तानों का त्याग तथा अध्यवसाय—गृहस्थों के कल्याण के लिए ही पत्र का प्रचार आदि—"उद्बोधन" पत्र का संचालन—जीवन को उच्च भाव से गढ़ने के लिए उपायों का निर्देश—किसी से घृणा करना या किसी को डराना निन्दनीय—भारत में अवसन्नता का कारण—शरीर को सबल बनाना।

जिस समय मठ आलम बाजार से लाकर बेलुड़ में नीलाम्बर बाबू के बगीचे में स्थापित किया गया, उसके थोड़े दिन बाद स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों के सामने जनसाधारण में श्रीरामकृष्ण के भावों के प्रचार के लिए बंगला भाषा में एक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव रखा। स्वामीजी ने पहले एक दैनिक समाचार-पत्र निकालने का प्रस्ताव किया था। परन्तु उसमें काफी धन की आवश्यकता होने के कारण एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित करने का प्रस्ताव ही सर्वसम्मति से निश्चित हुआ और स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को उसके संचालन का भार सौंपा गया। स्वामीजी के पास एक हजार रुपये थे; श्रीरामकृष्ण के गृहस्थ भक्त * ने और एक हजार रुपये ऋण के रूप में दिये, उसी धन से

---

* स्वर्गीय हरमोहन मित्र।

काम शुरू हुआ। एक छापाखाना * खरीदा गया और श्याम बाजार के 'रामचन्द्र मैत्र लेन' में श्रीगिरीन्द्रनाथ बसक के घर पर वह प्रेस रखा गया। स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने इस प्रकार कार्यभार ग्रहण करके बंगला सन १३०५, माघ के प्रथम दिन उक्त 'पत्र' का प्रथम अंक प्रकाशित किया। स्वामीजी ने उस पत्र का नाम 'उद्बोधन' रखा और उसकी उन्नति के लिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी को अनेकानेक आशीर्वाद दिये। अथक परिश्रमी स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने स्वामीजी के निर्देश पर उसके मुद्रण तथा प्रचार के लिए जो परिश्रम किया था वह अवर्णनीय है। कभी भक्त-गृहस्थ के भिक्षान्न पर निर्वाह कर, कभी अभुक्त रहकर, कभी प्रेस तथा पत्र सम्बन्धी कार्य के लिए दस दस मील तक पैदल चलकर स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी उक्त पत्र की उन्नति तथा प्रचार के लिए प्राणपण से प्रयत्न में लग गये। उस समय पैसा देकर कर्मचारी रखना सम्भव न था और स्वामीजी का आदेश था कि पत्र के लिए एकत्रित धन में से एक पैसा भी पत्र के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में खर्च न किया जाय; इसीलिए स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने भक्तों के घर भिक्षा माँगकर जैसे तैसे अपने भोजन और वस्त्र का प्रबन्ध करते हुए उक्त निर्देश का अक्षरशः पालन किया था।

पत्र की प्रस्तावना स्वामीजी ने स्वयं लिख दी थी और निश्चय हुआ कि श्रीरामकृष्ण के संन्यासी तथा गृहस्थ भक्तगण ही इस पत्र में लेख आदि लिखेंगे तथा किसी भी प्रकार के अश्लील विज्ञापन आदि इस पत्र में प्रकाशित न होंगे। श्रीरामकृष्ण मिशन

* यह छापाखाना स्वामीजी के जीवनकाल में ही कई कारणों से बेच दिया गया था।

एक संघ का रूप धारण कर चुका था। स्वामीजी ने मिशन के सदस्यों से इस पत्र में लेख आदि लिखने तथा श्रीरामकृष्ण के धर्म सम्बन्धी मतों का पत्र की सहायता से जनसाधारण में प्रचार करने के लिए अनुरोध किया। पत्र का प्रथम अंक प्रकाशित होने पर एक दिन शिष्य मठ में उपस्थित हुआ। प्रणाम करके बैठ जाने पर उससे स्वामीजी ने उद्बोधन पत्र के सम्बन्ध में वार्तालाप प्रारम्भ किया—

स्वामीजी—(पत्र के नाम को हँसी हँसी में विकृत करके)—'उद्बन्धन' * देखा है ?

शिष्य—जी, हाँ ! सुन्दर है !

स्वामीजी—इस पत्र के भाव भाषा सभी कुछ नये ढाँचे में गढ़ने होंगे !

शिष्य—कैसे ?

स्वामीजी—श्रीरामकृष्ण का भाव तो सब को देना होगा ही; साथ ही बंगला भाषा में नया जोश लाना होगा। उदाहरणार्थ, बार बार केवल क्रियापद का प्रयोग करने से भाषा की शक्ति घट जाती है; विशेषण देकर क्रियापदों का प्रयोग घटा देना होगा। तू ऐसी भाषा में निबन्ध लिखना शुरू कर दे। पहले मुझे दिखाकर फिर उद्बोधन में प्रकाशित होने के लिए भेजते जाना।

शिष्य—महाराज, स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी इस पत्र के लिए जितना परिश्रम कर रहे हैं, वह दूसरों के लिए असम्भव है।

स्वामीजी—तो क्या तू समझता है कि श्रीरामकृष्ण की ये सब संन्यासी सन्तान केवल पेड़ के नीचे धूनी जलाकर बैठे रहने के लिए ही पैदा हुई हैं ? इसमें से जो जिस समय जिस कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होगा, उस समय उसका उद्यम देखकर लोग दंग रह

---

* इस शब्द का अर्थ है—गले में फाँसी लगवाकर आत्मघात कर लेना।

जायेंगे। इससे सीख, काम कैसे करना चाहिए। यह देख, मेरे आदेश का पालन करने के लिए त्रिगुणातीत साधन-भजन, ध्यान-धारणा तक छोड़कर कर्तव्यक्षेत्र में उतर पड़ा है। क्या यह कम त्याग की बात है ? मेरे प्रति कितने प्रेम से कर्म की यह प्रेरणा उसमें आयी है देख तो, काम पूर्ण होने पर ही वह उसे छोड़ेगा ! क्या तुम लोगों में है ऐसी दृढ़ता ?

शिष्य—परन्तु महाराज, गेरुआ वस्त्र पहने संन्यासी का गृहस्थों के द्वार द्वार पर इस प्रकार घूमना फिरना हमारी दृष्टि में उचित नहीं है।

स्वामीजी—क्यों ! पत्र का प्रचार तो गृहस्थों के ही कल्याण के लिए है। देश में नवीन भाव के प्रचार से जनसाधारण का कल्याण होगा। क्या तू इस फलाकांक्षारहित कर्म को साधन-भजन से कम महत्त्वपूर्ण समझता है ? हमारा उद्देश्य है जीवों का कल्याण करना। इस पत्र की आमदनी से हमारा इरादा पैसा कमाने का नहीं है। हम सर्वत्यागी संन्यासी हैं—हमारे स्त्री-पुत्र नहीं हैं जो उनके लिए कुछ छोड़ जायेंगे। यदि काम सफल हो तथा आमदनी बढ़े, तो इसकी सारी आमदनी जीवसेवा के उद्देश्य से खर्च होगी। स्थान स्थान पर संघ और सेवाश्रम स्थापित करने तथा अन्यान्य कल्याणकारी कार्यों में इससे बचे हुए धन का सदुपयोग हो सकेगा। हम लोग गृहस्थों की तरह धन संग्रह के उद्देश्य से यह काम नहीं कर रहे हैं। केवल परहित के लिए ही हमारे सभी काम हैं, यह जान लेना।

शिष्य—फिर भी सभी लोग इस भाव को समझ नहीं सकते।

स्वामीजी—न सही ! इसमें हमारा क्या बनेगा या बिगड़ेगा ? हम निन्दा या प्रशंसा की परवाह करके कार्य में अग्रसर नहीं हुए हैं।

शिष्य—महाराज, यह पत्र हर पन्द्रह दिनों के बाद प्रकाशित होगा; हमारी इच्छा है कि वह साप्ताहिक हो।

स्वामीजी—यह तो ठीक है, परन्तु उतना धन कहाँ है? श्रीरामकृष्ण की इच्छा से यदि रुपये की व्यवस्था हो जायगी तो कुछ समय के पश्चात् इसे दैनिक भी किया जा सकता है और प्रतिदिन इसकी लाखों प्रतियाँ छपकर कलकत्ते की गली गली में बिना मूल्य बाँटी जा सकती हैं।

शिष्य—आपका यह संकल्प बहुत ही उत्तम है।

स्वामीजी—मेरी इच्छा है कि इस पत्र को स्वावलम्बी बनाकर तुझे सम्पादक बना दूं। किसी चीज को पहलेपहल खड़ा करने की शक्ति तो तुम लोगों में अभी नहीं आयी है। इसमें तो ये सब सर्वत्यागी साधु ही समर्थ हैं। ये लोग काम करते करते मर जायेंगे, फिर भी हटनेवाले नहीं हैं। तुम लोग थोड़ी बाधा आते ही, थोड़ी निन्दा सुनते ही चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार देखने लगते हो।

शिष्य—हाँ, उस दिन हमने देखा भी था कि स्वामी त्रिगुणातीतानन्दजी ने पहले श्रीरामकृष्ण के चित्र की प्रेस में पूजा कर ली और तब काम प्रारम्भ किया। साथ ही काम की सफलता के लिए आपकी कृपा की प्रार्थना की।

स्वामीजी—हमारा केन्द्र तो श्रीरामकृष्ण ही हैं। हम एक एक व्यक्ति उसी प्रकाश-केन्द्र की एक एक किरण मात्र हैं। श्रीरामकृष्ण की पूजा करके काम का आरम्भ किया, यह अच्छा किया। परन्तु उसने पूजा की बात तो मुझसे कुछ भी नहीं कही?

शिष्य—महाराज, वे आपसे डरते हैं। उन्होंने मुझसे कल कहा, "तू पहले स्वामीजी के पास जाकर जान आ कि पत्र के प्रथम